साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत गुजराती निबन्ध-संग्रह

स्टेच्यू

अनिल जोशी

H
891.474
J 78 S

H
891.474
J78S

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई.

सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत गुजराती निबन्ध-संग्रह

स्टेच्यू

मूल

अनिल जोशी

अनुवादक

कैलाश कबीर

साहित्य अकादेमी

Statue : Hindi translation by Kailash Kabir of Akademi's award-winning Gujarati essays *Statue* by Anil Joshi, Sahitya Akademi, New Delhi (1998), Rs. 35/-

© साहित्य अकादेमी

प्रथम संस्करण 1998

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन,
35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-110 001

विक्रय विभाग

स्वाति, मंदिर मार्ग,
नयी दिल्ली-110001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल,
23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड,
कलकत्ता-700 053

एडीए रंगमंदिर,
109, जे. सी. रोड,
बंगलौर-560 002

172, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग,
दादर, मुम्बई-400 014

मद्रास कार्यालय

गुना बिल्डिंग,
304-305, द्वितीय तल, अन्नासालई,
तेनामपेट, चेन्नई-600 018

ISBN 81-260-0308-1

मूल्य : 35/- रुपये

शब्द संयोजन : बुकमैन, लक्ष्मीनगर, दिल्ली

मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली

Library IIAS, Shimla
H 891.474 J 78 S
00094244

LC
891.474
J78S

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 94244
Date 7-2-2008

गुजराती के कुछेक शब्द हिन्दी में वैसे ही रहने दिये हैं। लेकिन समुचित अनुपात का ध्यान रखते हुए। मैं नहीं जानता मूल भाषा की गंध अनुवाद में और कैसे आ सकती है। ऐसा कोई शब्द नहीं लिया है जिसे प्रसंग के सापेक्ष पाठक समझने में कठिनाई महसूस करे और उस का रसभंग हो। इससे कहीं अधिक स्थानीय शब्द तो अनेकों मूल हिन्दी रचनाओं में मिल जायेंगे। 'मैला आँचल' जैसी आंचलिक रचनाओं की बात छोड़ दें तब भी। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग मूल में ही था। उन्हें अमूमन रहने दिया है।

राजस्थानी, गुजराती और मराठी की एक खास ध्वनि है जिसे हम ल और ड़ का मिश्रण कह सकते हैं। इस के लिए ल के नीचे नुक्ता (ल़) लगाकर काम चलाया जा सकता था। लेकिन राजस्थानी और मराठी देवनागरी में लिखी जाती हैं। दोनों में इस के लिए संकेताक्षर है : ळ। अतः ल के नीचे नुक्ता लगाने की अपेक्षा ळ का प्रयोग मुझे अधिक उचित जान पड़ा। कई अंग्रेजी और उर्दू शब्दों के सही उच्चारण को दर्शाने के लिए चंद्राकार (ॅ) और नुक्ते का प्रयोग देवनागरी में किया जाता है। अतः ळ का प्रयोग तो और भी तर्कसम्मत है। इस में मुझे कुछ भी अनुचित नहीं जान पड़ता। इस से हिन्दी में कुछ जुड़ता ही है।

राजस्थानी और गुजराती सहोदर हैं। इसलिए गुजराती के अल्पज्ञान के बावजूद गुजराती से हिन्दी अनुवाद का काम हाथ में ले लिया। कुछ लोगों के सहयोग से बात पार पड़ गयी, फिर भी बहुत कठिनाइयाँ आयीं। पूर्णता के आग्रह के चलते माथा पच्ची अधिक हो गयी। पर अंत भला सो भला। अनुवाद से काफी हद तक मैं संतुष्ट हूँ। गुजराती से वाकिफ साहित्यप्रेमियों को भी पसंद आया। इसके लिए मैं खास तौर से राजस्थान के कवि कथाकार (स्व.) भाई साँवर दइया और श्रीमती धीरजकँवर संकरोत का आभारी हूँ। उन के सहयोग के बिना नैया किनारे न लग पाती।

'स्टेच्यू' की भाषा और संस्कारों ने कई मायनों में मेरी भाषा को छुआ और संस्कारित किया है। इस के लिए मैं श्री अनिल जोशी का कृतज्ञ हूँ।

कैलाश कबीर

अनुक्रम

काबरी	7
स्टेच्यू खेलने का मजा	14
छत का मानुस	18
बसंत रितु में	22
आले का चुटकी भर उजाला	27
बॉलपेन	31
प्यास	35
अंगूर की पेटी लेकर ग्रीष्म आया	38
आसमान को चिट्ठी लिखने का मौसम	40
नगण्यता का उत्सव	42
मेरे लहू की नदी को गोकुल की धरती नहीं मिली	44
क्षण के सहारे अनंतता खड़ी है	47
छिलके	50
शैशव से चित्रित गली	55
अँधेरा	59
आँसुओं का वरदान लाती पारदर्शकता	62
कृष्ण के मोरपंख में द्रौपदी की आँख	64
बारी को परदे का कफन	66
कागज की नाव के लिए पानी खरीदना होगा	68
कव्वा उजले दिन का अँधेरा है	70

काबरी

मेड़ीबंध मकानों की विलायती खपरैलों के ऊपर से टोले में साँझ उतरती है तो पपनस के पत्ते हौले-हौले हिलते हैं। कुछ चिड़ियाँ उड़ती हैं। कुछ कव्वे बोलते हैं। कुछ चमगादड़ें उड़ती हैं। चूल्हे चेतते हैं। खिचड़ी का आँधण गरमाता है। धुआँ उठता है। पश्चिमी जाली से झलझल सूरज की किरणें ओसारे तक पहुँचती हैं तो लगता है जैसे धुआँती लकड़ियों से ओसारा भर गया है। खंभे की छाया ठेठ दीवार तक पहुँचती है। किवाड़ों के अरगल खुलते हैं। काबरी गाय का धण से वापस आने का वखत हो गया है। खूँटे के पास चारा और कूंडी में पानी डाला जा रहा है। साँकल की कड़ी खुलती है। शेलानी की गाँठ खुलती है। मोहल्ले में काबरी के आने से पहले की शांति छा जाती है। मछा भरवाड़ के धण के सीम से लौटने की खबर खलावाड़ से ही मिल जाती है। खलावाड़ से घंटियों की आवाज सुन पड़ती है। गोधूलि के बादल दिखायी देते ही गली में खेलते छोरों के हाथों से कंचे छूट जाते हैं। डंडा छिटक जाता है। 'काबरी आयी', 'काबरी आयी' कहते सब छोरे-छोरियाँ इधर-उधर बिखर जाते हैं। मछा भरवाड़ का धण गली में आता है तो गली घुँघुरुओं और घंटियों की छन-छन, टन-टन से भर जाती है। खुरों की आवाज से मृत गली जीवित हो उठती है। धण का वेग इतना प्रबल होता है कि गली में यहाँ-वहाँ पड़े कागज उड़ने लगते हैं। अरगल हिलने लगते हैं।

मछा के धण में हमारी काबरी की धाक पड़ती थी। गली की सब गायों से वह अलग दिखती थी। पूरे पाँच हाथ की काठी। काली काया पर सफेद धब्बे दिप-दिप करते थे। धूल से अटी होती तो धब्बे कुछ मैले दिखते थे। पर वह इतनी संवेदनशील थी कि चमड़ी थथरा कर खंख झाड़ देती थी। काबरी खुर पछाड़ती हुई धण से वापस आती तो किसी माई के लाल में इतनी हिम्मत नहीं थी कि उस के सामने पड़े। भूल-चूक से कोई सामने पड़ जाता तो छह महीने उस का खाट पकड़ना तय था। काबरी दौड़ती थी तो हवा भी मारग छोड़ देती थी। मछा के धण की ज्यादातर गायें

अपना फलसा पहचान क़र खड़ी-खड़ी रँभाती रहती थीं। पर काबरी का अपने वेग पर काबू नहीं था। वह दौड़ती आती थी और फलसे पर टक्कर मारती थी। और टक्कर भी ऐसी कि फलसे की चूल-चूल हचमचा जाती थी। काबरी आती और फलसा बंद होता तो फलसा उघाड़ने वाले की नानी मरती थी। वह हौले-हौले दबे पाँव फलसे तक जाता और बेआवाज अरगल खोल कर तुरंत किवाड़ के पीछे छुप जाता। छुपता नहीं तो काबरी के सींगों पर चढ़ कर आँगन तक घिसटता जाता।

फलसा उघड़ते ही काबरी खुर पटकती हुई पूरे बाड़े में बवंडर की तरह चक्कर काटती थी। काबरी को खूँटे से बाँधना बंवडर के पंख बाँधना था। काबरी को खूँटे पर बाँधे इतना कलेजा घर में किसी का नहीं था। उसे खूँटे पर बाँधने के लिए हम ने उका भरवाड़ को खास तौर पर रख रखा था। उका हाथ में साँकल लिये खूँटे के पास पुचकारता हुआ खड़ा रहता था। उस के एक हाथ में साँकल और दूसरे में बिनौलों की तगारी देख कर काबरी का प्रबल रूप कुछ शांत हो जाता। इधर काबरी बिनौलों में मुँह डालती और उधर उका उस के गले में साँकल डाल देता। काबरी खूँटे पर बँध जाती तो हम एक-एक कर के बाहर निकलते। जैसे बिल में से चूहे निकलते हैं। काबरी के डर से मेड़ी पर चढ़े भाई साहब पाजामे के लटकते नाड़े के साथ सीढ़ियाँ उतरते दिखते। ओसारे के कोने में दुबकी दादीमाँ हाथ में घास का पूला लिये बाड़े में जाती दिखायी पड़ती। माँ सूपड़े में दाल झटकती हुई बाड़े में आ खड़ी होती। पड़ोसन नंदु बहन रुई की बाती बनाती हुई पपनस के नीचे आ बैठती।

खूँटे से बँध कर भी काबरी बाज नहीं आती थी। बिनौले खाते हुए या पानी पीते हुए वह सतत खुर पटकती रहती थी। साँकल खनखनाती रहती थी। पूँछ हिलाती रहती थी। चमड़ी थथराती रहती थी। काबरी की चमड़ी छुईमुई के झाड़ जैसी थी। जरा-सी धूप पड़ती और उस की चमड़ी धूजने लगती थी। और जोरावर ऐसी कि एक बार खूँटा ही उखाड़ दिया। उस वखत मैं ओसारे के पास खंभे से पीठ टिकाये गणित का सवाल हल कर रहा था। झंझावात की तरह काबरी आयी और मेरा गणित चाब गयी। मेरे मनोयत्न और गणित की चिंदी-चिंदी हो गयी। मैं भाग कर एकढ़ालिए में घुस गया। काबरी खुर पटकती, माथा हिलाती, साँकल खनकाती, खूँटा घसीटती यहाँ-वहाँ डोलती रही। उस की उद्दंडता को बस में करने के लिए दादीमाँ को गली से दो-चार भरवाड़ों को बुलाना पड़ा। गली में कोहराम मच गया।

एक बार काबरी के खुरों में नाल ठोंकने के लिए नालबंध बुलवाया गया। उस बेचारे को खबर नहीं थी कि खूँटे पर बवंडर बँधा है। वह ज्यों ही काबरी के पास

गया वह भड़क गयी। काबरी ने उसे ऐसी लात मारी कि उस के पैर ऊपर और सर नीचे। काबरी को छूने का किसी में साहस नहीं था। वह सती के समान थी। उस की चमड़ी में ऐसा तेज था कि छूने वाले की अंगुलियाँ झुलस जातीं।

काबरी को जीवा भरवाड़ दुहता था। पाणकोर की सुथनी और बंडी। बड़ी-बड़ी मूँछें। मजबूत कद-काठी। उस के कपड़ों से गाय की बास आती थी। काबरी साँझ-सवारे बोधरणु भर कर दूध देती थी। काबरी का ऊस हमेशा भरा रहता था। धण में गायों को दुह लेते हैं ऐसी शिकायत गली में अक्सर सुनने में आती थी। पर काबरी के ऊस को हाथ लगाये इतना दुस्साहस किसी में नहीं था। जीवा भरवाड़ काबरी को दुहने आता तो वह चुपचाप खड़ी हो जाती थी। जैसे उसे पहचानती हो। जीवा काबरी के पिछले पैर शेला से कस कर बाँध देता था। फिर ताँबे के लोटे में पानी ले कर ऊस धोता। फिर अपने पैरों के बीच बोधरणु दबा कर 'सैडधम.... सैडधम.... सैडधम...' दुहने लगता। वह थन दबाता जाता था और दूध की धार फूटती जाती थी। देखते-देखते बोधरणु भर जाता। काबरी के फेनिल दूध की गंध मुझे इतनी अच्छी लगती थी कि मैं शेडकढ़े दूध का बोधरणु सूँघता था। दुहने के बाद हर रोज जीवा के साथ दादीमाँ की झकझक चलती थी। दादीमाँ कहती, "ऊस में अभी काफी दूध है।" जीवा कहता, "माडी! मैं ने दूध की आखिरी बूँद तक निकाल ली है। और दुहूँगा तो आऊ से खून आने लगेगा।" जीवा और दादीमाँ का यह रोज का संवाद था। दादीमाँ मुँह मस्कोर कर जीवा के हाथ से बोधरणु ले लेती। काबरी के पैरों से शेला खुलता। काबरी के जी में जी आता। वह फूँफाड़े करती हुई पूँछ फटकारती, खुर पटकती। फिर बैठ जाती।

काबरी के पहली बार ब्याने की मुझे अच्छी तरह याद है। बाड़े के बीचोबीच उस ने मृत बछड़ा जना। तरियावाड़ के चार-पाँच भरवाड़ों ने काबरी का बछड़ा खींच कर निकाला था। उसे देखने के लिए बाड़े में पाँव धरने की भी ठौर नहीं बची थी। ब्याती हुई काबरी को देख कर मैं इतना घबरा गया कि भाग कर छत पर चढ़ गया। छत पर से सहमे हुए मैं ने यह खौफनाक दृश्य देखा। थोड़ी देर बाद खाटकी के दो-चार छोरे बीड़ी पीते हुए बाड़े में आये। एक के हाथ में मोटी डोरी थी। उन्होंने मृत बछड़े को कस कर बाँधा और घसीटते हुए ले गये। वे डोरी खींचते जाते थे और बछड़ा घिसटता जाता था। उसे वे खाटकीवाड़े में ले गये। उन दिनों मैं ज्यादा समझता नहीं था। मैं रोने-रोने को हो आया। पर किसी को रोते नहीं देखा तो जज्ब कर गया। काबरी ब्यायी और बछड़ा मर गया। अगले ही दिन सब ऐसे बरताव करने लगे जैसे कुछ हुआ ही न हो। काबरी के पहलवार के दूध की बळी सारे मोहल्ले

में बँटी। पर मैं वह बळी न खा सका। आज भी कोई बळी मेरे सामने रखता है तो मैं नाक बंद कर के मुँह फेर लेता हूँ। इस के पीछे यही घटना है।

काबरी दूध देने लगी है इस का हर्ष घर में समाता नहीं था। काबरी की उछलकूद ब्याने के बाद और बढ़ गयी। जैसे वह जानती हो कि उस का बछड़ा मर गया। वह ज्यादा बिफरी हुई दिखती। वह बछड़े के बदले खंभे को चाटती। पछीत को चाटती। ब्याने के बाद धण में ले जाने के लिए उसे पहली बार खूँटे से खोला तो जमीन सूँघती हुई वह पूरे बाड़े में घूम गयी। बाड़े का चप्पा-चप्पा सूँघा। पर मृत बछड़े की गंध उसे कहीं नहीं मिली। मृतक का अता-पता न पा कर वह और बिफर गयी। फुफकारती और चारों पैरों पर उछलती वह फलसा लाँघ कर मछा के धण में मिल गयी।

काबरी दूध पर आयी तो घर में सब की कामगीरी बढ़ गयी। काबरी धण में जाती तो माँ ओढ़नी खोंस कर गोबर इकट्ठा करती और उपले थापने छत पर चली जाती। दादीमाँ मोटी सळी का झाड़ू ले कर बाड़ा बुहारने लगती। भाई साहब रजके जैसी हरी घास लेने चक्करबाग के घासपीठे के लिए चल पड़ते। कुटुंब के बड़े-बूढ़ों का मानना था कि गाय को मूँगफली की खल और बिनौले खिलाने से दूध ज्यादा होता है। सो ओसारे में बिनौले और खल की बोरियाँ रखी रहने लगीं। मैं छोटा था, सो मेरे हिस्से में कोई काम नहीं आया। मैं सब का हाथ बँटाता था।

मृत बछड़ा जनने के बाद काबरी के रंग-ढंग बदल गये। उस की उछलकूद बढ़ गयी। साँझ को जीवा भरवाड़ दुहने आता तो वह बोधरणु भर कर दूध देती, पर बिनौलों की तगारी को मुँह भी नहीं लगाती। मूँगफली की खल खूँटे के पास रखी होती तो उसे सूँघ कर मुँह फेर लेती। वह खूँटा चाटती, खंभा चाटती, खुर पटकती, गोबर करती, मूतती और आधी रात को रँभाती।

पर काबरी का यह मूड अधिक दिन नहीं टिका। कुछ ही दिनों में वह रास्ते पर आ गयी। सब खा लेती। धण में जाती। पहले की तरह चमड़ी भी थथराती। पर जाने क्यों धीरे-धीरे उस का दूध सूखने लगा! एक दिन जीवा दुहने आया तो बमुश्किल आधा बोधरणु दूध दिया। जीवा ढोर-डंगरों को खूब पहचानता था। उस ने तभी कह दिया कि वह अब दूध नहीं देगी। उस की आगाही सच निकली। कुछ दिनों में काबरी एकदम वसूकी गयी। दादीमाँ को खोटा भरोसा था कि काबरी वसूकी नहीं, वह दूध चढ़ा लेती है। इस लिए वह बार-बार पुचकारती हुई ऊस पपोलती थी। पर उस के थनों से दूध की बूँद भी नहीं आती थी।

फिर घर में काबरी की बाबत बहुत ओछी बातें होने लगीं। उस के लिए रोज सवेरे आता रजका बंद हो गया। ओसारे से बिनौले और खल की बोरियाँ अदृश्य

हो गयीं। मछा और जीवा की छुट्टी कर दी गयी। पहले कोई काबरी की राव-फरियाद ले कर आता तो दादीमाँ उसे छठी का दूध याद दिला देती थी। वह हमेशा काबरी का पक्ष लेती थी। पर अब कोई काबरी की शिकायत करता तो काबरी का कसूर सब की आँखों में खटकता था। एक दिन काबरी किसी के घर में घुस गयी और आँगन में सूखते हुए चावल खा गयी। घर के मालिक के आग लग गयी। उस ने काबरी को लाठियों से खूब पीटा, जैसे पिंजारा रुई के गद्दों को धुनता है। काबरी बाँबेड़ती हुई हमारे यहाँ आयी। उस की चितकबरी चमड़ी पर नील जम गये थे। लस्त-पस्त वह खूँटे के पास बैठ गयी। काबरी की सती जैसी चमड़ी पर मैं ने पहली बार खून रिसते नील उभरे देखे। उस की यह हालत करने वाले पर मुझे ऐसा गुस्सा आया कि मार-मार कर उस का भुरकस निकाल दूँ। पर गली के सब लोगों ने काबरी को ही दोषी ठहराया। मेरी झायँ-झायँ किसी ने नहीं सुनी। उन की देखादेखी मैं भी काबरी में दोष निकालने लगा। मुझे खूब याद है कि एक बार मैं ने काबरी को लकड़ी से मारा तो दादीमाँ ने मुझे कितना डाँटा था! कहा, "गाय को नहीं मारते। गाय में तैंतीस करोड़ देवता वास करते हैं।" यह बात मेरे मन में घर कर गयी। उस के बाद मैं ने कभी किसी गाय को हाथ नहीं लगाया। परीक्षा के लिए जाते वखत रास्ते में गाय का शकुन हो जाता तो मैं गाय के पैरों के हाथ लगाता था। उस समय की भारत की कुल आबादी के बराबर देवता इतनी-सी गाय में कैसे रहते हैं इस का मुझे विस्मय होता था। पर हमारे पड़ोसी ने काबरी की जिस बेरहमी से धुनाई की उस से मेरा विस्मय धुल गया। मुझे लगा जैसे काबरी के साथ तैंतीस करोड़ देवता भी वसूकी गये।

एक साँझ मैं स्कूल से लौटा तो खूँटा खाली! बाड़ा भी झाड़ा-बुहारा हुआ! बस्ता ओसारे में खंभे के पास रखा। काबरी मुझे कहीं नजर नहीं आई। उस साँझ मुझे पता चला कि तरियावाड़ा के तीन-चार भरवाड़े काबरी को पिंजरापोल ले गये। बिना काबरी का बाड़ा उस साँझ मैं ने पहली बार देखा। साफ-सफाट। धुला-धुलाया। खूँटा वहीं था, पर साँकल गायब थी। नवेला में रखे घास के पूळे अदृश्य हो गये थे। काबरी के बिना बाड़ा मुझे मृत लगा। गली का पपनस बिरछ साँझ की ढलती धूप को बाड़े के फर्श पर फैलाता झूल रहा था। चितकबरे उजाले से बाड़ा भर गया। मानो काबरी बड़ी हो कर पूरे बाड़े में पसर गयी हो।

कुछ दिन उपरांत काबरी पिंजरापोल से भाग छूटी। सरपट दौड़ते हुए उस ने हमारे बाड़े में आ कर ही दम लिया। खुर पटकते हुए पूरे बाड़े में घूमने लगी। खूँटा सूँघने लगी। खंभा चाटने लगी। रँभाने लगी। बाड़ा जैसे कुछ क्षण के लिए जीवंत

हो गया। जैसे कोई लड़की मायके में आ कर बाड़े में घूमती है वैसे ही काबरी घूमने लगी। पर उसे खबर नहीं थी कि अब यह बाड़ा उस का नहीं रहा। उसे देखते ही दादीमाँ गली से दो-चार भरवाड़ों को बुला लायी—उसे वापस पिंजरापोल पहुँचाने के लिए। लंबे-तगड़े भरवाड़े लाठियाँ लिये आ धमके। उन्होंने उस की ऐसी कुटाई की कि वह गिरती-पड़ती फलसे से बाहर निकल गयी। फलसे का अरगल फटाक-से बंद हो गया। उस दिन के बाद फिर कभी काबरी ने हमारे घर का रुख नहीं किया।

पर काबरी को पिंजरापोल रास नहीं आया। वह जहाँ-तहाँ भटकने लगी। कभी खलावाड़ में दिखती तो कभी बरगद के पास। उस की सारी उछल कूद हवा हो गयी थी। एक दिन मैं ने उसे अबेद के बँगले के पास देखा। वह हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गयी थी। उस की गति मर गयी थी। उस की बड़ी-बड़ी आँखों से पानी बह रहा था। लगातार रिसता पानी उस की आँखों के नीचे हराचम हो गया था। वह कहीं भी बैठ जाती थी और फिर दिनों उठ नहीं पाती थी। मैं ने काबरी को देखा है यह बात मैं घर पर बताना चाहता था, पर कोई कान नहीं देगा यह सोच कर टाल गया।

एक बार मझ दुपहरी मछा भरवाड़ हमारे यहाँ आया। मछे को यों अचीता आया देख कर हमें अचरज हुआ। वह बाड़े में खंभे के पास बैठ गया। मैल से कचाकच पगड़ उतार कर उस ने जमीन पर रखा। मछे को देख कर मुझे काबरी याद आ गयी। मेड़ी से उतर कर मैं मछे के पास आ खड़ा हुआ। रसोई में आटा ओसना छोड़ कर माँ भी आयी। उस के हाथ आटे से लिथड़े हुए थे। दादीमाँ ओसारे में झाड़ू लगा रही थी। वह भी आयी। मछा अपनी गाय बेचना चाहता था। वह दादीमाँ से बतियाने लगा। अपनी गाय के बारे में उस ने कई बातें बतायीं। वह एकदम सूधी है— अल्लाह की गाय है। दूसरी बार ब्याई है। दोनों वखत बोधरणु भर कर दूध देती है। मछा कहता रहा और दादीमाँ सर हिलाती रही। काबरी की बात चली तो मछा का मुँह उतर गया। काबरी का ताजा समाचार देते हुए उस ने बताया कि काबरी कल गेट वाली गली के चौक में मर गयी। सुन कर मुझ पर मेड़ी टूट पड़ी। मैं नंगे पाँव देहरी लाँघ कर गली में पत्थरों से ठोकरें खाता, गेट वाली गली पार कर तरियावाड़ की मस्जिद को पीछे छोड़ता, मुर्गों को चपेट में लेता, खुले गटर लाँघता, कुत्तों से उलझता, खाटकीवाड़ा की तरफ जाते छकड़ों के बीच से रास्ता बनाता, आड़ा-तिरछा गिरता-पड़ता एक नीची छत वाले मकान के छप्पर के नीचे जा खड़ा हुआ। यह छापरी भला खाटकी की थी। खाटकीवाड़ा से असह्य दुर्गंध के भभके उठ रहे थे। दो-चार छोरे टीन की तुड़ी-मुड़ी देगचियों में मांस ले जा रहे थे। भला खाटकी के वाड़े में अधिक आवाजाही नहीं थी। कुछ छोकरे मरे ढोर की पूँछ के बाल नोचते झाँपली

के पास बैठे थे। झाँपली से थोड़ी दूर लोहे के मोटे तार पर काबरी की खाल सूख रही थी। काबरी की खाल पर एक कव्वा बैठा था। कव्वा उड़ा और फिर काबरी की खाल पर बैठ गया।

स्टेच्यू खेलने का मजा

बरसों बाद गाँव की अपनी गली में पाँव रखा तो समूची गली मुझे यों देखने लगी जैसे मैं निरा अजाना होऊँ। एकाध डोलती बकरियाँ। गोबर करती गाय। गटरों के पुराने जंग खाए ढकन। छतों और धाबों पर सरदी की धूप सेंकते बीमार और वृद्ध। उड़ती चील। सब मुझ पर श्वान की तरह झपटे। पर किसी ने मुझे पहचाना नहीं। बचपन का आइडेंटिटी कार्ड बताने पर भी गली मुझे पहचानने को तैयार नहीं हुई। गली की उदासीनता देख कर मैं भावविह्वल हो गया। पर कुछ भी क्यों न करूँ बीते वखत को लौटाया नहीं जा सकता। इन घरों को अच्छी तरह आँखों में बसा लूँ या गली को साँसों के साथ फेफड़ों में भर लूँ ऐसी तीव्र इच्छा उठी। पर मैं कुछ न कर सका। गली में अतीत का जल छीज गया है।

साँझ को मैं पहाड़े रटता हुआ तालुके के स्कूल के कंपाउंड में दबे पाँव गया। कहीं कोई देख न ले। स्कूल का भवन जस का तस है। रिसेस में हम जिस प्याऊ पर पानी पीते थे वहाँ एक बड़ा मकान बन गया है। सीढ़ियों के पास की दीवार का उपयोग हम बरता तीखा करने के लिए करते थे। वह दीवार भी जस की तस है। दीवार का यह हिस्सा बरते घिसने से मॉडर्न आर्ट का नमूना लगता है। उस दीवार को सहलाने के लिए आगे बढ़ा तो मेरी समूची बारहखड़ी गड़बड़ा गयी। कक्का औंधा हो गया। झुटपुटे के वखत कंपाउंड छोड़ा। कोई मन में बोले तब भी पंचम सुर में सुनायी दे इतनी शून्यता मुझ में भर गयी।

अल्ल सुबह गली में कुछ छोरों को केसूड़े के फूलों से रंग बनाते देखा तो बसंत ऋतु का उल्लास बिजली की तरह सर से पाँव तक दौड़ गया। पांडु जैसा मैं केसूड़े को छूने गया। पर छू न सका। किसी शैतान छोरे ने मुझ पर रंग डाल दिया तो? डर के मारे मैं एकढ़ालिए में छुप गया। एकढ़ालिए की गोखे जितनी बारी से जितनी गली दिखती है उतनी देखते हुए मुझे लगा कि गली तो वैसी ही है, पर मैं बदल गया हूँ। शैशव की उछलकूद कुदरती है। अब वह उछलकूद मुझे परफॉर्म करनी पड़ती है। शैशव तितली की तरह आया, बैठा और उड़ गया। पर यह तितली कभी-कभार मेरे चश्मे के काच पर आ बैठती है। तब मेरा चश्मा पिघल कर बह जाता है। साल्वादोर डाली ने जैसे पिघलती हुई घड़ियों का चित्र बनाया है वैसे ही पिघलते हुए चश्मे का चित्र उकेरने का मन हुआ।

मेरी गली में स्टेच्यू खूब खेला जाता था। अपने बालसखाओं के संग मैं भी

स्टेच्यू बनता था। स्टेच्यू खेल की विशेषता यह है कि 'स्टेच्यू' का आदेश देकर सामने वाले की तमाम क्रियाएँ जाम कर सकते हैं। हम सब एक-दूसरे को 'स्टेच्यू' कह कर उसे जैसे का तैसा स्थिर रखने का आनंद लेते थे। मेरे साथियों में झीणा नाम का एक भरवाड़ों का छोकरा था। उस के कपड़ों से गाय, भैंस और बकरी की बास आती थी। उस की नाक से सतत द्रव बहता रहता था। वह गेट वाली गली में रहता था। उछलकूद में कोई उस की बराबरी नहीं कर सकता था। छप्पर और पेड़ पर वह बंदर की तरह पलक झपकते चढ़ जाता था। झीणा 'स्टेच्यू' कहने में उस्ताद था। वह इतना चपल था कि हमें 'स्टेच्यू' कहने का अवसर ही नहीं मिलता था। हम भीतर ही भीतर कसमसाते रहते थे। पर झीणा की चपलता का कोई सानी नहीं था। 'स्टेच्यू' कह कर उसे जस का तस रखने के हम ने बहुत प्लान बनाये, पर हमारी दाल नहीं गली।

एक बार हम गली में नारगोल खेल रहे थे। तभी पास की गली से गुलगपाड़ा सुन पड़ा। नारगोल की ठीकरियाँ वहीं की वहीं छोड़ कर हम भागे। चौक में जा कर देखा तो झीणा बिजली के खंभे से चिपक कर स्टेच्यू हो गया था। हम सन्न रह गये! गली में इकट्ठे हुए लोग फटी-फटी आँखों से यह हौलनाक दृश्य देखते रहे। बिजली काट कर झीणा का शव नीचे उतारा गया। समूची गली रोने-रोने को हो आई। हम सब संगी-साथियों की आँखों के सामने वह स्टेच्यू हो गया था। वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के आगे तैरता है। उस वखत यह विचार आया कि झीणा से कोई कहे कि हम ने तुम्हें 'स्टेच्यू' नहीं कहा, फिर तू स्टेच्यू क्यों बना? तुझ से किस ने 'स्टेच्यू' कहा? इन सवालों का मुझे आज भी कोई जवाब नहीं सूझता।

आज उस खंभे को ताक जैसी इस बारी से देखते हुए मैं स्वयं स्टेच्यू हो गया हूँ। गरमियों की इस दुपहरी में खंभे के पास एक पिल्ला सो रहा है। कुछ कागज हवा में उड़ रहे हैं। एकाध कव्वा खंभे पर बैठा और फिर उड़ गया। खंबे के इर्द-गिर्द कागज के टुकड़ों को पागल पवन अपनी मरजी से उठाता-गिराता है, उलटता-पलटता है और फिर जहाँ चाहता है, पटक देता है। इन टुकड़ों के साथ मैं भी कागज बन कर गली में उड़ता हूँ। सब स्टेच्यू हो गये हैं। न कोई चलता है, न कोई बोलता है।

पाँव घसीटते हुए मैं ओसारे में आया। ओसारे में ठाकुरजी के आले के आगे ठिठका। धीमे से आला खोला। आले में श्रीकृष्ण की पीतल की मूर्ति दिखती है। मूर्ति को उठाया और 'भगवान, तुम भी स्टेच्यू हो गये?' ऐसा पूछ कर फिर आले में रख दिया। आला बंद किया और जन्माष्टमी का स्मरण करते हुए मेले में जा पहुँचा।

जन्माष्टमी के त्यौहार की हम बड़ी बेसब्री से बाट जोहते थे। पंचनाथ के पास इन दिनों बड़ा मेला लगता है। मेले में जाने के लिए हम सावन लगते ही अकुलाने लगते थे। एक जन्माष्टमी पर उस से पहली रात ही मैं ने मेले में जाने की पूरी तैयारी कर ली थी। खाकी बंडी और नीली चड्डी को इस्त्री के लिए तकिए के नीचे रख दिया था। भोर में माँ ने मुझे खूब नहलाया। बाल सँवारे। आँखों में काजल डाला। मैं कोई बहुत सुंदर नहीं था फिर भी बुरी नजर से बचाने के लिए मेरे गाल पर काजल का टीका लगाया। दोएक रुपये की रेजगारी खर्ची के लिए दी। तैयार हो कर निकल रहा था कि माँ ने कहा, "मेले में जाने से पहले ठाकुरजी के आगे दीया रख जा! यह ले दीया और माचिस। ठाकुरजी को पाँवधोक कर के जाना!"

मैंने माचिस और दीया लिया और जल्दी-जल्दी ओसारे में गया। आला खोला। ठाकुरजी के पास दीया रखा। दियासलाई से दीया जलाया। ठाकुरजी को आधा-दूधा पाँवधोक किया और बेलियों के संग मेले के लिए चल पड़ा। दिन भर मेला रौंदा। खूब उछलकूद की। साँझ को हवा निकले गुब्बारे की तरह घर लौटा तो देखा आँगन में वातावरण भारी है। सब के मुँह चढ़े हुए थे। आँगन की चौकड़ी में कृष्ण की काली-कुट्ट मूर्ति खट्टी छाछ में पड़ी थी। ठाकुरजी का अधजला आला ओसारे के खंभे के सहारे रखा था। ठाकुरजी की मोरपंख की सावरनी, गाद्दी, छत्र और पेराहन जल कर राख हो गए थे। सवेरे मैं ने दीया ठीक से नहीं रखा इसलिए यह सब हुआ' कह कर मुझे गिल्ट फील करवाने लगे। माँ ने भी मुझे डाँटा। उस दिन से मेरे मन में गाँठ बैठ गई कि मैं ने भगवान को जला दिया। जिस दिन मैं ने श्रीकृष्ण की पीतल की मूर्ति को खट्टी छाछ में पड़ी देखा उस दिन से मैं चैन से सो न सका। कृष्ण को मैंने जला दिया इसलिए कृष्ण काले हैं यह मैं जनूनपूर्वक मानने लगा। पर यह मान्यता और यह प्रसंग आज स्टेच्यू की तरह फ्रीज हो गये हैं।

पर स्टेच्यू खेलने का अपना मजा है। किसी बालक ने खेल-खेल में सृष्टि की रचना की, यह भाव दिनोंदिन दृढ़ होता जा रहा है। किसी बात को गंभीर रूप दे कर फिलोसफी झाड़ें तो झाड़ें, पर इस के विपरीत हलकी-फुलकी तितलियाँ भी हैं। खिलते फूल भी हैं। मुद्दे की बात नजर की है। मृत्यु को अत्यंत गंभीरता से ले कर हम शोकाकुल हो जाते हैं तो यह कहने को मन होता है कि ईश्वर हमारे साथ स्टेच्यू खेल रहा है। वह किसी भी क्षण किसी को भी 'स्टेच्यू' कह कर फ्रीज कर देता है। हम ने भी ईश्वर को 'स्टेच्यू' कह कर मंदिर और पुस्तकों में फ्रीज कर दिया है न फिर शोकाकुल होने का कोई कारण नहीं। खेल में खेलने के आनंद के सिवा कुछ नहीं होता। अहिल्या भी स्टेच्यू हो गई थी और फिर राम के स्पर्श से चलने-फिरने

लगी। तो हम मृत्यु के बाद चल-फिर नहीं सकेंगे यह कैसे कह सकते हैं?

ईश्वर भी झीणा भरवाड़ की तरह 'स्टेच्यू' कहने में उस्ताद है। उड़ते पंछी को 'स्टेच्यू' कहता है तो क्रौंचवध हो जाता है। बहती हवा को 'स्टेच्यू' कहता है तो हवा थम जाती है। कलकल बहते पानी को 'स्टेच्यू' कहता है तो बर्फ जम जाती है। घेर-घुमेर वृक्ष को 'स्टेच्यू' कहता है तो टेबल बन जाती है (लकड़ी की टेबल वृक्ष को कहा 'स्टेच्यू' है)। शब्द को 'स्टेच्यू' कहता है तो शब्दकोश बन जाता है। समय को 'स्टेच्यू' कहता है तो वह भूतकाल बन जाता है। शैशव की स्मृति भूतकाल (स्टेच्यू) बन गया समय ही तो है! हथघड़ियाँ सतत चलती रहती हैं। एक के बाद एक क्षण स्टेच्यू होता जाता है। सूर्य का गोला पूर्व से उठता है और पश्चिम में फिंक जाता है। गुलमोहर के तने से कान लगाएँ तो ग्रीष्म रितु की पदचाप सुनाई देगी। गुलमोहर पर फिर लालचटक फूल आयेंगे। स्टेच्यू हुए आम के पेड़ पर फिर आम लगेंगे। माँ के गर्भ में स्टेच्यू बना किसी का शैशव फिर ठुमक कर चलेगा और फिर मेरी गली को स्टेच्यू के खेल से गुंजायेगा।

नीची छत के डेलीबंध घर हमारी गली की शोभा थे। बनने के बाद इन्हें गारे या सफेदी के दर्शन नहीं हुए थे। इन की दीवारों पर रितुओं के चित्र आँखों में रड़कते थे। हर घर में मजबूत देशी लकड़ी की डेली थी। डेली में दीया रखने के गोखे होते थे। ये गोखे दीवाली की रात को जगमगा उठते थे। बाकी दिनों में ये अपने हिस्से के खालीपन को सहेजे मुरदे के खुले मुँह जैसे लगते थे। कुछ घरों में पक्की छत थी तो कुछ में खुले धाबे। गरमियों में छतों और धाबों का उपयोग मच्छरों और खटमलों से खदबदाते गद्दे-गिलाफों को धूप दिखाने के लिए होता था। एकाध धाबों पर झोली सरीखी खाटें हमेशा पड़ी रहती थीं।

हमारी गली की नालियाँ खुली थीं। गली की औरतें निसंकोच अपने बच्चों को शौचकर्मार्थ नालियों पर बिठाती थीं। गाय, भैंस और अन्य मवेशी जहाँ-तहाँ गोबर करते हुए गली में डोलते रहते थे। मछा रवाड़ के ढोर-डंगर गली की आँख की किरकिरी थे। मछा बहुत सयाना था। वह दुधारू डंगरों को तो डेली के भीतर ले लेता था और विसूकी गये डंगरों को गली के भरोसे छोड़ देता था। मछा के डंगर जब चाहे किसी के भी घर में बेधड़क घुस जाते और जो सामने पड़ता चबा जाते थे। एक बार मछे की गाय मेरे बाड़े में घुस गई और मेरी बंडी चबा गयी। मेरी माँ को गाय की शिकायत करने मछे के यहाँ जाना पड़ा।

गली में क्रिकेट के अनुकूल आबोहवा के सृजन में मगन ठाठी का मकान बड़ी बाधा था। हम क्रिकेट खेल रहे होते और भूल-चूक से गेंद मगन ठाठी के आँगन में चली जाती तो गयी ही समझो। डेली के बाहर से हम कितनी ही चिरौरी क्यों न करते अंदर से एक ही जवाब मिलता था, "गेंद आयी ही नहीं।" इस तरह टेनिस की जाने कितनी गेंदें मगन ठाठी का घर लील गया। मुझे लगता है कि हमारी गली में कोई महान धुआँधार बल्लेबाज नहीं हुआ उस के लिए मगन ठाठी का घर जिम्मेवार है। गोकुल के छोरे नसीब वाले थे जो उन की टीम में श्रीकृष्ण थे। वे कालियामर्दन कर के यमुना के पैंदे से भी गेंद ले आते थे। पर हमारी टीम में कोई कृष्ण नहीं था जो मगनमर्दन कर के गेंद वापस ले आता।

हमारी गली कौतुक से छलकी पड़ती थी। सत्तर बरस के बूढ़े की आँखों में भी कौतुक के कबूतर उड़ूँ-उड़ूँ करते थे। (देखा, फिर छठी विभक्ति!) कोई कार आती तो फटाफट डेली के अरगल खुलने लगते। मेड़ीबंध घरों की बारियाँ धड़ाधड़ खुलने

लगतीं। हाथ भर लंबा घूँघट काढ़े बहुआरियाँ भी सहज रूप से घूँघट उठा कर कार को कनखियों से देख लेतीं। आधी रात तक खाँस-खाँस कर दुहरे हुए अरजन बापा भी डेली से सर निकाल कर कार को देखने से नहीं चूकते थे। इसी तरह आसमान में घर्र-घर्र करता विमान आता तो उसे देखने के लिए सारा मोहल्ला छतों और धाबों पर आ जाता था। जब तक विमान दिखना बंद नहीं हो जाता था तब तक "वह रहा... वह रहा... वह रहा..." के शोर से गली गूँजती रहती थी और छतें हिलती रहती थीं।

हमारी गली के मकान अनियमित आकार के थे। पर हर घर में ओसारा, आँगन और अगाशी जरूर होते थे। अगाशी (बालकनी) विहीन मकान पगड़ीविहीन मानुस की तरह लगते हैं। ऐसे मकानों को घर कहने को जी नहीं करता। मुझे लगता है कि जिन मकानों में ओसारा, आँगन और अगाशी नहीं वे गुफा हैं, बिल हैं। हमारे घरों में ओसारा कौटुंबिक संवाद का रंगमंच है। ओरी और रसोई की गणगणाहट जहाँ पाँव रखते ही कानों में ओसरे (बरसे) वह ओसारा। बंद ओरी से हम ओसारा में आते हैं तो आँख और जीभ मुक्त हो जाते हैं। कुछ ओसारे 'स्वागतम्' कहते खाट पर झूलते रहते हैं तो कुछ ओसारों की जालियाँ ज्यादातर बंद रहती हैं। हमारी गली में सब ओसारे खुले थे। विश्वनाथ कानजी जैसे बड़े घरों में ही जाली लगे ओसारे देखने में आते थे। खंभे वाले ओसारे की विशेषता यह होती है कि उस में एक ओखली होती है और बड़े टाँकों का कसीदादार कपड़ा दीवार से झूलता रहता है। ऐसा ओसारा बहुत रोमांटिक लगता है।

आँगन पड़ोसियों के साथ संवाद का रंगमंच है। ओसारा ओरी के चित्त का विस्तार है तो आँगन ओसारे के चित्त का विस्तार। हमारे आँगन गारे से लिपे हुए होते थे। इन की दीवारों पर उभरी हजारों अंगुलियाँ ऐसे लगती थीं जैसे कंचे खेल रही हों। हरेक आँगन में तुलसी-क्यारा होता था और चिड़ियों के पानी पीने के लिए टँगी ढीब हवा में झूलती रहती थी। बिना वृक्ष के आँगन खिलता नहीं। हमारे आँगन में पपनस का वृक्ष था। उस पपनस पर कभी फल नहीं आता था इस लिए दादाजी ने उसे कटवा दिया। उस वखत मैं बहुत रोया। वृक्षहीन आँगन मुँडे सर जैसा लगता था।

हर चौथे महीने जीवा बापा हमारे बाल काटने के लिए हजामत की पेटी लिये हुए आँगन में हाजिर होते थे। हम झँडुरिया जैसे सर लिये लाइनसर बैठ जाते। जीवा बापा सब से पहले हजामत की पेटी नीचे रखते। फिर पोजीशन ले कर बाल कटवाने वाले का सर पकड़ते और कहते, "अपनी मुंडी सीधी रख"। सर के लिए मुंडी शब्द

मैं ने पहली बार जीवा बापा के मुँह से सुना। फिर जैसे माली की कैंची मेंहदी की बाड़ पर चलती है वैसे ही जीवा बापा की कैंची मेरे सर पर चलती थी। जीवा बापा बाल काटते वखत कोई कायदा नहीं मानते थे। सो वह कैंची से मेरे सर के साथ मनमाफिक बरताव करते थे।

हर बरस हमारे ओसारे में नाथा दरजी बैठता था। नाथा दरजी ठिगना था। पान पर पान खाता था। और मोटे काच का चश्मा पहनता था। वह औरतों से बतियाने का शौकीन था। वह हमें मज़ाकिया चुटकुलों जैसा लगता था। व्यक्तिगत सिलाई में उस का बहुत नाम नहीं था, पर सामूहिक सिलाई का वह विशारद था। वह जब चली, पोपलीन और शार्कस्कीन के थान काटने बैठता तो उस का भलभलाता आत्मविश्वास चकित करता था। नाथा दरजी की सिली बंडी तुरंत पहचान में आ जाती थी। पु.ल. देशपांडे के दरजी की तरह वह हमारा नाप फीते से नहीं, नजर से लेता था। इस लिए कपड़े सिल कर तैयार होते तो उन्हें पहन कर हम बड़े लोगों जैसे लगते थे। नाथा से बंडी या निकर बड़ा होने की शिकायत करते तो वह तुरंत कहता, "एकाध बार धुलने पर नापसर हो जायेगा।"

छत आकाश के साथ संवाद साधने का रंगमंच है। छत पर पग धरते ही ओरी, ओसारे और आँगन की सरहदों को लाँघ कर हमारा संबंध आकाश से जुड़ जाता है। हमारे आस-पड़ोस में कुछ लोग ओसारे के मानुस होते हैं। वे ओसारे के पाट पर सुपारी काटते, जीभ हिलाते बैठे रहते हैं। कुछ आँगन के मानुस होते हैं। ये आँगन में डाँग पटेलाई करते हुए पड़ोसियों की मेंड़ें भाँगते-तोड़ते रहते हैं। कुछ छत के मानुस होते हैं। ये ओसारे और आँगन की कुलबुलाहट से आजिज आ कर छत पर चले जाते हैं। मैं अपने को छत का मानुस मानता हूँ।

हमारी छत पर बारहों मास दो तगारियाँ पड़ी रहती थीं। गरमियों में माँ चावल का चिवड़ा बनाती थी और खट्टे पानी में भिगोयी केरी सूखने के लिए रखती थी। चिवड़े और केरी में कव्वे चोंच न मारे इस लिए मुझे रखवाली के लिए बिठाती थी। मैं कव्वे उड़ाते हुए छत पर बैठा रहता था। मैं गरमियों की चिलचिलाती धूप में मँडराती चीलों को सतत देखता रहता था। एक घर से दूसरे घर पर उड़ते तोतों को देखता रहता था। भूख लगती तो जो सूखने को रखा होता खा लेता।

ओसारे और आँगन से मैं छत पर कैसे पहुँचा इस पर सोचता हूँ तो लगता है मेरी तुतलाती बोली ने मुझे छत पर पहुँचा दिया। उन दिनों मैं बहुत हकलाता था। किसी से बात करनी पड़ जाती तो मेरे पसीने छूटने लगते थे। माँ के सिवा दूसरे के साथ मैं कम ही बोलता था। परिवार में सिर्फ माँ ही थी जिस के साथ मैं

निःसंकोच हकलाते हुए बात कर सकता था। घर में मेहमान वगैरा आ जाते तो वह मुझे छत पर भेज देती थी। मैं छत पर बैठा तोतों और चीलों को उड़ते देखता रहता था। रात्रि को छत पर सोते हुए मेरा सप्तर्षि, मृगशीर्ष, आकाशगंगा और वृश्चिक के साथ भयपूर्ण संवाद सध जाता था। सप्तर्षि को टगर-मगर देखते हुए कब आँख लग जाती पता ही नहीं चलता था।

बसंत रितु में

बालकनी के रेलिंग पर तितली आकर बैठती है तो मैं जान जाता हूँ कि बसंत ऋतु की हलकी-फुलकी डाक आ गयी। अब बसंत की बयार आतंकवादियों की तरह घर में घुसपैठ कर के 'कालनिर्णय' कलेंडर के पन्ने फड़फड़ायेगी। केसूड़े की उष्मा शीत की गठरियाँ उठा कर हिमालय में फेंक देगी। पिपरमेंट की तरह सहेज कर रखे हुए पाप करने के लिए मन अधीर होगा। बसंत रितु परस की डेडलाइन है। पांडु का माद्री से परस होते ही पांडु का फ्यूज उड़ जाता है। पुराने पत्ते झर जाते हैं। नये पत्तों की ताजगी से वृक्ष छलकने लगते हैं।

पतझड़ में वृक्ष पत्तों का मरणोत्सव मनाते हैं। डाली से पत्ता झरता है। झरे हुए पत्तों के घाव को हम विरह कहते हैं। खालीपन कहते हैं। खाालीपन के इन दिनों में घड़ियों की सतत टिक-टिक सुनता हूँ तो समय बहुत वाचाल लगता है। कलेंडर का बड़ा सुख यह है कि इस में समय बोलता नहीं, लिपिबद्ध होता है। इस ऋतु में हम अकेले हों तो घड़ी की टिक-टिक अणुबम के धमाके की तरह लगती है और कलेंडर पर रविवार के लाल गुलमोहर आग बरसाते प्रक्षेपास्त्र लगते हैं।

यह अलगाव मेरी समझ से परे है। पिछले बीस-तीस बरसों से अलगाव का शोर सतत सुन पड़ता है। मुझे लगता है कि जब हम अकेले होते हैं तो शरीर और एकांत हमारे साथ होते हैं। तने पर अकेली चलती चींटी के लिए वृक्ष एकांत है। चीनी का दाना चींटी का सुख है। उस के अभाव में वृक्ष अकेलेपन का पहाड़ लगता है। सुख की मरीचिका के लोभ में हम ने वृक्ष के मर्मर जीवन को नकार दिया है। पतझर में झरे हुए पत्तों को पवन बुहारता है तो मुझे लगता है वृक्ष के घर से कितना कचरा निकला है! पत्ते डाली का सुख नहीं। डाली का सुख है जड़। पत्ते वृक्ष का वैभव बढ़ाते हैं, सुख नहीं। जड़ थिर है। आधार है। डाल-पत्ते कामचलाऊ हैं। हम ने कामचलाऊ चीजों को सुख मान लिया है। अतः दुख के मरसिये हमारे पीछे पड़े हुए हैं। दुख को समझने का प्रयत्न करें तो मालूम होगा कि दुख कामचलाऊ नहीं। दुख शाश्वत है।

मुझे अक्सर ऐसा लगता है जैसे मैं कच्चा अंडा हूँ। जीवन में असह्य दुख आते हैं तो मुझे लगता है जैसे वे मुझे से रहे हैं। अंतिम साँस तक मैं सतत सेया जाता हूँ। अपने सेये जाने की प्रक्रिया को दुख कह कर मैं वासनाओं का वमन करता हूँ। सोचने का यह ढंग नासमझी है। उबले अंडे का छिलका जितनी आसानी से

उतरता है उतना कच्चे अंडे का नहीं। यानी जो सख्त है उसे नरम करने के लिए ताप चाहिए। अंडे के संदर्भ में यह ताप गर्म पानी का या कबूतर के पेट की गरमी का है। मानुस यदि अंडा है तो दुख का ताप शाप नहीं, वरदान है। कच्ची समझ होने से पहले मैं घबरा जाता था। रोने लगता था। अब मुझे लगता है कि दुख आत्मा की उष्मा है और सुख आत्मा पर पड़ी बर्फ है।

दुनिया जिसे सुख कहती है वह मुझे किसी भी कीमत पर नहीं चाहिए। मैं जानता हूँ कि रतिक्रीड़ा त्वचा का सुख है। सौंदर्य आँख का सुख है। स्वाद जिह्वा का सुख है। प्रशंसा कान का सुख है। वाहन पाँव का सुख है। सत्ता अहंकार का सुख है। सुगंध नाक का सुख है। सुखों की इस भीड़ में मैं अपना सुख ढूँढ़ता हूँ तो गताधम में पड़ जाता हूँ। सुख के इन खिलौनों से बहल जाऊँ ऐसा बच्चा तो अब रहा नहीं। मैं जानता हूँ कि मैं त्वचा नहीं। मैं आँख नहीं। मैं जिह्वा नहीं। मैं कान नहीं। मैं पाँव नहीं। मैं अहंकार भी नहीं। तो मैं क्या हूँ? इन में से कोई नहीं तो मैं क्या हूँ? इस प्रश्न की सफेदी मेरी आँखों में गिरती है तो मैं खाली स्क्रीन बन जाता हूँ। थियेटर में अँधेरा होता है और मुझ पर फिल्म चलती है। फिल्म की व्यथा-कथा चलती है। पर न चलचित्र स्क्रीन है और न स्क्रीन चलचित्र। कुछ ऐसा ही मेरा घाट गढ़ा हुआ है। फिल्म के अंत में 'द एंड' के आखर उभरते हैं तो टेंपरेरी फिल्म का अंत हो जाता है। पर स्क्रीन शाश्वत रहती है। यही मैं हूँ।

मृत्यु के बारे में मेरे मन में भारी विस्मय रहा है। मैं बहुत छोटा था तब हमारी गली के चौक में रामलीला वाले आये थे। उस दिन हम सब ब्यालू-पानी से जल्दी निवृत हो कर चौक में खाट लगा कर जम गये। ठीक नौ बजे थाली बजी और खेल शुरू हुआ। खेल राम-रावण युद्ध का था। एक ओर से राम की वानर सेना आयी और दूसरी ओर से रावण की राक्षस सेना। रावण की भूमिका में थे गोरधन भाई और नरहरि भाई बने राम। लड़ाई खूब जमी। अंततः रावण मारा गया और राम की जीत हुई। काफी रात गये खेल खत्म हुआ। अगले दिन सवेरे मैं नरोत्तम भाई के होटल पर दूध लेने गया तो मैं ने वहाँ आश्चर्य से रावण बन कर मर गये गोरधन भाई को बीड़ी पीते हुए देखा। मैं दूध ले कर घर गया और माँ से कहा, "रावण तो नरोत्तम भाई के होटल पर बैठा है। वह मरा नहीं। वह अभी जिंदा है। माँ बोली, "नाटक में सब झूठ-मूठ मरते हैं और झूठ-मूठ जीते हैं।" उस दिन से झूठी मृत्यु और झूठा जीवन मेरे मन में घर कर गए। कोई मरता है तो उस का क्या होता है इस की मुझे बड़ी उत्कंठा रहती थी। एक बार मैं ने मरी हुई चिड़िया को हाथ में ले कर देखा। पर मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा। हमारी गली में कोई मरता तो उस

की अरथी देखने के लिए मैं छत पर चढ़ जाता था और "राम बोलो भाई राम" कहते जत्थे को देखा करता था। मैं श्मशान जाने से बहुत डरता था। सो कंधा देने वालों से श्मशान की बातें सुनने में बड़ा रस आता था। पर मुरदा जला कर लौटे काँधिए लकड़ी और मुरदे की बात ही करते थे। मुरदा भारी होता तो उस का मजाक करते थे। कोई मृत्यु का जिक्र नहीं करता था। अतः मैं ने मान लिया कि मुरदे ही मृत्यु हैं। मृत्यु के बारे में विचार करता हूँ तो मुझे बचपन का एक प्रसंग याद आ जाता है।

मैं छठी क्लास में पढ़ता था तब पिताजी का तबादला मोरबी हो गया। पिता जी मोरबी के कॉलेज में प्रिंसिपल बन कर गये और हम गोंडल से मोरबी आ गये। मोरबी के गिब्सन मिडल स्कूल में मेरा दाखिला हुआ। नया वातावरण। नया गाँव। नया आस-पड़ोस और नए भाई-बंधु। हमारे सरकारी बँगले के पीछे तालुके की पाठशाला का बड़ा मैदान था। इस मैदान में हम क्रिकेट और नारगोल खेला करते थे। उस वखत मेरे नए भेरुओं की टोली में मनोज (कवि मनोज खंडेरिया) भी था। वह निकर-कमीज पहनता था और ट्रामवे कॉलोनी से हमारे साथ क्रिकेट खेलने आता था। हम क्रिकेट खेलते थे और कभी-कभार नीम के नीचे पकी निंबोली बीनते थे।

हमारे बँगले के सामने मेरू चौकीदार बैठा करता था। हम क्रिकेट खेल रहे होते तो वह बीच-बीच में कॉमेंटरी करता जाता था। उस की दाढ़ी हमेशा बढ़ी रहती थी। वह सरकारी टोपी और कोट पहने होता था। वह दिन भर चाय की उकाली पीता था और तेज तंबाकू का पान खाता था। मेरू को नाटक का बहुत शौक था। मोरबी की नाटक कंपनियों में वह पार्टटाइम काम भी करता था। उसे जोर से बोलने की आदत थी। उस की आवाज टूटे हुए रेकार्ड जैसी थी। उसे बात-बात में एक्टिंग करने की लत थी। वह जात का नाई था, पर बातें भरतमुनि की करता था। उस ने नाटक में नाम नहीं कमाया इस का उसे बहुत दुख था।

एक बार नाटक कंपनी ने मेरू को नट की भूमिका दी। पर उस का नसीब खोटा था। अजाने में उस ने सब गुड़-गोबर कर दिया। इस खेल में उसे मरना था। पर हुआ यह कि परदा गिरने से पहले ही वह उठ खड़ा हुआ और विंग में चला गया। दर्शकों ने खूब हल्ला मचाया। निर्देशक के आग-आग लग गई। वह मेरू पर खूब बिगड़ा। दर्शकों ने टिकट के पैसे वापस माँगे। मेरू को मरना नहीं आया इस लिए उस दिन से निर्देशक ने उसे स्टेज के पीछे धकेल दिया। वह सामान सँभालता, प्रोंटिंग करता, मेकअप के लिए पाउडर तैयार करता और बाज मर्तबा टिकटबारी पर भी बैठता।

मेरू को नाटक में मरना नहीं आया इस का उसे बड़ा फ्रस्ट्रेशन था। अब वह बात-बात में मरने का अभिनय करने लगा। हम क्रिकेट खेल रहे होते और वह फाइल लिये उधर से गुजरता तो गेंद नहीं लगती तब भी जैसे गेंद लग गयी हो ऐसा दिखाते हुए जमीन पर लेट जाता और मरने का स्वाँग करता। दीवाली के दिनों में हम डाट वाली पिस्तौल छोड़ रहे होते और मेरू बीच में आ जाता तो जैसे असली गोली लगी हो ऐसे सर लटका देता। कोई बड़ा धमाका होता या घर में साँप निकलता तब भी वह मुरदे की तरह पड़ जाता। उस के मरने के स्वाँग से हमारा खूब मनोरंजन होता था।

एक दिन मेरू सख्त बीमार हो गया। उसे सिविल हॉस्पिटल ले गये। कुछ दिन हॉस्पिटल में रह कर वह घर आ गया। पर उस की तबीयत नहीं सँभली। उस की आवाज बैठ गयी। कंठझाल के कारण वह जोर से नहीं बोल सकता था। वह दिन भर खाट पर पड़ा रहता। एक दिन गले का दर्द इतना बढ़ा कि वह अचानक चल बसा। उस दिन मैं मेरू के घर गया तो उस का शव जमीन पर पड़ा था। शव के पास घी का दीया जल रहा था। उस वखत तो मुझे विचार नहीं आया, पर आज मुझे लगता है कि मेरू ने जिंदगी भर मरने की रिहर्सल की। सारी जिंदगी वह झूठ-मूठ मरता रहा। पर अब मेरू को मरना आ गया था।

हम मृत्यु को झुठलाते हैं। इसलिए वह हमें विषम लगती है। मृत्यु की हम रिहर्सल नहीं करते। इसलिए वह हमें अजनबी लगती है। नाक से हवा का आना-जाना जीवन नहीं है। यह जीवित मृत्यु भी हो सकती है। जहाँ सूर्य की एक चुटकी किरण भी नहीं पहुँचती ऐसी अँधेरी कोठरी में आप सफेद बिल्ली और काली बिल्ली रखें तो सफेद बिल्ली की हलचल आप देख सकते हैं। पर काली बिल्ली का हिलना-डुलना या जीवन आप को नजर नहीं आता। अतः आप मान लेते हैं कि सफेद बिल्ली जीवित है और काली बिल्ली मर गयी। यह दृष्टिभ्रम है। यही दृष्टिभ्रम मृत्यु के संदर्भ में हमें होता है।

मुझे फिर वृक्ष दिखता है। वृक्ष के पुराने पत्ते झड़ चुके हैं और नये पत्ते आ गये हैं। वृक्ष की घनी छाया सरसरा रही है। कुछ चींटियाँ और मकोड़े उस के तने पर चढ़-उतर रहे हैं। पत्ते अस्थाई हैं और डाली स्थायी है। जड़ स्थायी है। पीळक और खेरखट्टा वृक्ष पर बैठते हैं और थोड़ी देर चहचहा कर उड़ जाते हैं। पर उस के गीत के बोलों से डाली के दाग लग जाता है। वृक्ष अपने पत्तों को एकत्र कर के नहीं रखता। पर हमारे घरों में सुख-दुख के इतने पत्ते एकत्र हो गए हैं कि हम जीते-जागते गोदाम हो गये हैं। एक पत्ता भी हम छोड़ने को तैयार नहीं। यही सारी

मुसीबतों का मूल है।

बसंत रितु में ऐसे कई विचार आते हैं। घड़ी में सेकंड का काँटा सतत चलता रहता है। दीवाल पर कलेंडर फड़फड़ाता रहता है। पुरानी चिट्ठियाँ जीर्ण-शीर्ण हो गयी हैं। बादाम का लाल पत्ता पोखर में तैर रहा है। पँखेरुओं के बहुतेरे अधखाये बादाम जमीन पर पड़े हैं। चिड़िया का पंख उड़ कर आता है और बारी के परदे पर चिपक जाता है। चींटी का एकांत वृक्ष है और मेरा एकांत घर। वृक्ष और घर में शून्यता आकारबद्ध हो जाती है। हर क्रिया का अपना आकार होता है। लय होती है। जीवन यदि शरीर में आकारबद्ध है तो मृत्यु का भी कोई आकार होता होगा। मृत्यु भी कहीं जन्म लेती होगी। बालकथाओं में राजा किसी पात्र को सर मुँडवा कर गधे पर बिठाता है। उसी तरह हम ने भी मृत्यु को यम के भैंसे पर बिठा कर गाँव से निकाल दिया है। इसीलिए हम उस के साथ भाईपा नहीं बरत पाते।

आले का चुटकी भर उजाला

दीवाली के दिन बस्ती के सिवान पर आते ही हमारी गली में जब्बर हलचल मचती है। आकाश में सूरज चढ़ा नहीं कि घर-घर काम से धमधमाने लगता है। कोई पछीत पर रखे बरतन-बासन माँजने के लिए निकाल रहा होता है तो कोई धूप दिखाने के लिए गादले-गूदड़े छत पर डाल रहा होता है। किसी के आँगन में झोल खाई खाट की वाण खिंच रही होती है तो किसी का आँगन गोबर से लिप रहा होता है। साल भर के आलस को झाड़-बुहार कर बाहर करने की होड़-सी लग जाती है।

हमारा घर मेड़ीदार था। ड्योढ़ी गली में खुलती थी। ड्योढ़ी की चौखट के दोनों तरफ दीये रखने के आले थे। ये आले दीये के धुएँ से कालेधब्ब दिखते थे। दीवाली आती तो घर की बहू-बुआरी हाथ भर घूँघट काढ़े आले साफ करती थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि हमारी ड्योढ़ी से थोड़ा आगे झीणीमाँ की ड्योढ़ी थी। अभी दीवाली में एक महीना बाकी होता, पर झीणीमाँ कलबल-कलबल करती ड्योढ़ी से बाहर आती और आले साफ करने लगती थी। झीणीमाँ सत्तर-पचहत्तर की थी तिस पर भी उस में गजब की फुरती थी। काठी ऐसी कि हवा के एक झपाटे में उड़ जाये। पर उसे ठाली बैठना नहीं सुहाता था। हर वखत वह कुछ न कुछ करती रहती थी। घर पर कोई काम नहीं होता तो पड़ोस में बासन माँजने या सीने-पिरोने पहुँच जाती। तितिघोड़े की तरह वह पूरी गली में उड़ती फिरती थी।

झीणीमाँ की जीभ गज भर की थी। हाथों के साथ-साथ उस की जीभ भी चलती रहती थी। वह गली में खड़ी होती और पास से कोई गाय गुजरती तो वह उसे भी कुछ कहे बिना नहीं रहती थी। गली के कुत्ते तो झीणीमाँ को देखते ही पूँछ उठा कर भाग खड़े होते थे। हमारी गली में झीणिमाँ का विशिष्ट स्थान था। बहू-बुआरियों के लिए झीणीमाँ अफरा झाड़ने की ठौर थी। गली की सासुएँ झीणीमाँ से खार खाती थीं, "झीणीमाँ के पेट में कुछ खटता नहीं।" पर बहू-बुआरियाँ हमेशा झीणीमाँ का पक्ष लेती थीं। झीणीमाँ बोलने लगती तो कोई उस के सामने टिक नहीं सकता था। झीणीमाँ खाये बिना रह सकती थी, पर बोले बिना नहीं। बोलना झीणीमाँ की खुराक थी। एक बार ऐसा हुआ कि मेरी पतंग गोत खा कर झीणीमाँ के आँगन में गिर गयी। मैं डरता-सहमता झीणीमाँ के यहाँ गया। किवाड़ भिड़ा हुआ था। मैं दबे पाँव आँगन में गया। उस वखत झीणीमाँ ओसारे में ठाकुरजी को नहला रही थी। उस का बड़बड़ाना चालू था।

"सारे मुलक का मैल इकट्ठा कर रखा है। आँबली से पलाळू तब भी उजला नहीं होगा। हाथ चलते हैं तब तक तो धो-पोंछ देती हूँ। फिर तू जाने और तेरी जमना!" कहते-कहते कृष्ण की काली मूर्ति को धोती से पोंछ कर ताँबे के तरभाण में रखा। मैं भौचक्का रह गया। मैं ने अपने जीवन में भगवान के साथ बात करते झीणीमाँ के अलावा किसी को नहीं देखा।

झीणीमाँ को दीया-बाती करना बहुत भाता था। दीवाली के दिन किसी के यहाँ अँधेरा दिखता तो झीणीमाँ तुरंत वहाँ जा धमकती, "घर में अँधेरा क्यों कर रखा है? चलो, उठो! साँझ हो गयी है।" संध्याटाणे झीणीमाँ हमेशा ओसारे में बैठी लालटेन का गोला साफ करते या दीये की बाती सीधी करते दिखती थी। झीणीमाँ के एक बेटा था—गोबर। हम उसे गोबरा कहते थे। वह उम्र में हम से काफी बड़ा था, पर दीवाली आने को होती तो वह हमारे साथ हो जाता था। गली के नाके पर उस की किराने की छोटी-सी दुकान थी। इस लिए हम बच्चों में गोबरा का भारी आकर्षण था। गोबरा अपनी दुकान में पिपरमेंट की भरणी भर रहा होता तो हम मुग्ध भाव से लार टपकाते खड़े रहते थे। दीवाली के माँडने उकेरने में गोबरा के जोड़ का गली में कोई न था। दीवाली से काफी दिन पहले वह तैयारी में जुट जाता था। चूना कूटना। गाय के गोबर से आँगन लीपना। बाजार से पोटास ला कर सिगरेट की डब्बी की पन्नी से गोलियाँ बनाना। पोटास फोड़ने की छड़ को ठोंक-पीट कर रिपेर करना। इस तैयारी में हम सब उस का हाथ बँटाते थे।

गोबरा ठिगना था, पर कामकाज में बड़ा था। वह पतंग बनाना जानता था। दीवाली के माँडने उकेरना जानता था। पोटास की गोलियाँ बनाना जानता था। माताजी की आरती गाना जानता था। जरूरत पड़ने पर साइकिल का पंचर भी निकाल लेता था। वह घुटने तक पहुँचता स्लेटी निकर पहनता था। दूसरी गली के छोरे उसे 'पोनी पेंट... पोनी पेंट... ' कह कर चिढ़ाते थे, पर वह कभी बुरा नहीं मानता था। गोबरा के बालों में इतना तेल चुपड़ा होता था कि रिसता हुआ गालों पर आ जाता था। झीणीमाँ तकिये की खोली धोती तो गोबरा पर गालियों की झड़ी लगा देती थी। एक बार गोबरा बीड़ी पीते हुए पकड़ा गया तो झीणीमाँ ने कागरोळ मचा दिया। आसमान सर पर उठा लिया। पर गोबरा ने झीणीमाँ को कभी पलट कर जवाब नहीं दिया। वह जो कहती चुपचाप सुन लेता।

एक दीवाली को हम गोबरा के ओसारे में चूना कूट रहे थे। गोबरा कागज पर माँडने कोर रहा था। साँझ होने को थी। झीणीमाँ ओरड़े में लालटेन जला रही

थी। दीया-बाती की वेला होते ही झीणीमाँ गोबरा को बुला लेती थी। गोबरा भी सौ काम छोड़ कर आले में दीया रखने के लिए दौड़ा जाता था। पर उस साँझ झीणीमाँ ने उसे आवाज नहीं दी। साँझ के ओले आँगन में उतरते जा रहे थे। गुगल और लोबान से गली गमक रही थी। हम चूना कूटने और माँडने उकेरने में मगन थे। इतने में झीणीमाँ की भयंकर चीख सुनायी दी। गोबरा चूना छानने की छलनी फेंक कर भागा। हम ने फटी-फटी आंखों से देखा कि लपटों से घिरी झीणीमाँ दिल दहल जाये ऐसे चीखती हुई आँगन में दौड़ती आयी। झीणीमाँ के कपड़ों में लगी आग से पूरा आंगन लाल हो गया। आजू-बाजू के घरों से सौ जन दौड़े आये। झीणीमाँ की आग को किसी ने कंबल डाल कर बुझा दिया, पर झुलसी हुई झीणीमाँ की चीखें गूँजती रहीं। झीणिमाँ का सारा शरीर जल गया था। गली के दो-चार लोगों ने जी कड़ा किया और झीणीमाँ को खाट पर लिटाया। डॉक्टर लिवा लाये। पूरी गली में हाहाकार मच गया। बना हुआ खाना रखा ही रह गया। उस भयंकर रात हमारी गली की आँख भी नहीं झपी। गोबरा की हालत तो ऐसी हो गई जैसे उस का सारा खून निचुड़ गया हो। मुझे अच्छी तरह याद है कि उस रात पौ फटने से पहले ही झीणीमाँ ने दम तोड़ दिया। गोबरा बुक्का फाड़ कर रोने लगा। उस साल हमारी गली में दीवाली नहीं मनी।

आज बरसों बाद गली में पग रखता हूँ तो मन असंख्य स्मृतियों से भर जाता है। गली में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता हूँ मेरी आँखों के आगे दीये रखने के आले बड़े होते जाते हैं। झीणीमाँ की ड्योड़ी आती है तो पाँव जम जाते हैं। ड्योड़ी के किवाड़ की लकड़ी दीमक से थोथी हो गयी है। किवाड़ पर लिखा लाभ-शुभ मुश्किल से पढ़ाई में आता है। चौखट में से बेलें बाहर निकल आयी हैं। दीये रखने के आले मकड़ी के जालों सें अटे हुए हैं। आलों में दीयों की कालुँस अभी तक जमी हुई है। किसी ने कहा है कि आप दीये रखने के कालुँस भरे ताक देखते हैं तो यह पता चलता है कि कभी यहाँ उजाला रहा करता था। झीणीमाँ की ड्योड़ी से आगे बढ़ता हूँ तो आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है। गली के नाके पर एक गाय कागज चबा रही है। कहीं पटाखे छूट रहे हैं। साँझ के ओले गली में उतरते जा रहे हैं। जैसे कालीकट्ट भैंसों का टोला घुस आया हो ऐसे गली में अँधेरा भर जाता है। सहसा बिजली के छोटे-छोटे बल्बों से गली जगमगा उठती है। घर-घर में ट्यूबलाइटें जल जाती हैं। देखते-देखते समूची गली उजाले से नहा जाती है। ड्योढ़ी के आले हैं कि नजरों से दूर ही नहीं हाते। रोशनी की जगमगाहट में डूबी गली में मैं आलों के चुल्लू

भर उजाले को ढूँढ़ता हूँ। पर वह उजाला ताली बजा कर जाने कहाँ छुप गया है! रोशनी से छलकती गली में मुझे कुछ सूझायी नहीं पड़ता। आँखों में जाला छा जाये तो उसे निकलवाया जा सकता है, पर आँखों में शैशव उतर आये तो किस सयाने के पास जायें?

बॉलपेन

आज कुछ लिखना है, पर बॉलपेन नहीं चलता। शब्द हौले से खिसक जाते हैं। कुछ सूझता नहीं। बॉलकनी में जाता हूँ। यूँ खड़े रहने में कोई तुक नहीं। फिर भी खड़े-खड़े लिकिंग रोड पर आते-जाते वाहनों को देखता रहता हूँ। बॉलपेन की रिफिल खलास हो गयी है यह मैं जानता हूँ, पर बेखुदी के आलम में कुछ सूझता नहीं। अकेला होता हूँ तो यूँ ही मन भटकता रहता है। कोई विषय नहीं सूझता तब बॉलपेन को तोड़ फेंकने की इच्छा होती है। पर इसे तोड़ डालने से लेखन चल पड़ेगा इस की कोई खातरी नहीं। बॉलपेनों की दुनिया भी निराली है। लिकिंग रोड पर या फ्लोरा फाउंटेन पर घूमते-घूमते पेन वाले की दुकान में घुसता हूँ तो इन की मायावी दुनिया मुझे घेर लेती है। शॉकेस में रखे बॉलपेन बोलते नहीं, पर व्यंजना से बहुत-कुछ कह जाते हैं।

कुछ इंपोर्टेड बॉलपेनों का अहंकार इतना स्ट्रोंग होता है कि शब्द उस की हाजरी बजाते हैं। उस का हुकम मिलते ही क्रीतदास की तरह पीछे-पीछे घिसटते जाते हैं। इन बॉलपेनों के आगे शब्द अपना हृदय नहीं खोलते, बल्कि बँधुआ मजदूर की तरह बँधे चले आते हैं। ऐसे बॉलपेनों के पनारे से गिरे शब्द निस्तेज, निर्वीय और निरे कंकाल लगते हैं। कई बॉलपेन धान के मारे तो कई लाठी के मारे नजर झुका कर लिखते हैं। कई बॉलपेन किसी को पता न चले इस तरह वखत से पहले विसूकी जाते हैं। ऐसे विसूकी गये बॉलपेन अपना अलग चर्च स्थापित कर के 'पाप विमोचन पत्रिका' पर सही करने लगते हैं।

लिखते समय पेन की टाँच या चोट शब्द को नहीं लगनी चाहिए। पर ज्यादातर बॉलपेन ऐसे चलते हैं मानो घेटे-बकरे चराने निकले हों। ऐसे हिंसक बॉलपेन के शब्द लहूझाण हो कर कागज पर पड़े हों तो ऐसा मत कहिये कि इस बॉलपेन के शब्दों में लहू की लय समाई हुई है। कोई अच्छा लिखता है तो हम कहते हैं कि उस के शब्द मँजे हुए हैं। ऐसा कह कर हम प्रज्ञापुरुष की आबरू बढ़ाते नहीं, घटाते हैं। मैं कभी शब्द को नहीं माँजता। शब्द मुझे माँजते हैं। शब्द कभी भी मैला या जंग खाया नहीं होता। मैं मेला हो सकता हूँ। मुझे जंग लग सकता है। शब्द तो जैसा है वैसा ही है। पर यहाँ हम यह न भूलें कि जैसा बॉलपेन होगा वैसे ही उस के शब्द होंगे। काले की ठौर सफेद को बाँधेंगे तो रंग तो नहीं, पर अकल जरूर आयेगी।

पिछले बीस-तीस बरसों के गुजराती शब्द माइक्रोस्कोप से देखने लायक हैं। वृद्ध मानुस की आँखों में जैसे मोतिया उतर आता है वैसे ही प्राचीन शास्त्रों को भी मोतिया हो जाता है। हमारे काव्यशास्त्र शब्द में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से आगे देख ही नहीं पाते। एक समय था जब काव्य में व्यंजना की बड़ी महिमा थी। इसलिए उस युग के सर्जक भूखे बाघ की तरह व्यंजना पर टूट पड़े। परिणाम यह हुआ कि व्यंजना बाँझ हो गयी। आज आप गौर से देखेंगे तो गुजराती शब्दों में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना की अपेक्षा अभिनय अधिक दिखेगा। ये अभिनेता शब्द भाँड की तरह जुदा-जुदा भेष धर कर हमारे पास आते हैं। कई शब्दों की अभिनय शक्ति ऐसी जब्बर होती है कि वे कागज की सफेद स्क्रीन पर छा जाते हैं। युगप्रवर्तक बन जाते हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार मेरे शब्द गाँधीजी का भेष धर कर निकल पड़े थे। तब भोले भक्त जैसे धार्मिक सिनेमा के प्रेम अदीब को सचमुच का राम मान कर उस के पैर छूते थे वैसे ही मेरे बॉलपेन के चरण स्पर्श करने लगे। रातोंरात मेरा बॉलपेन भगवान बन गया। वह बॉलपेन अपना रोल पूरा कर के ग्रीनरूम में मेकअप उतारता है तो ग्रीनरूम के काच उसे फाड़ खाते हैं। एकांत काटने को दौड़ता है। आज उस बॉलपेन की रिफिल खलास हो गयी है। फिर भी वह लिखे जा रहा है। उसे कौन रोके?

मेरे पास एक ऐसा बॉलपेन है जो जन्मा तो शहर में है, पर देहाती भेष धर कर भाँड की तरह कागज बिगाड़ता है। इस बॉलपेन ने गाँव का मुँह भी नहीं देखा, बस, ठेठ गँवई शब्दों को अपना चाकर रख लिया है। इस बॉलपेन के शब्दों को छूते हैं तो त्वचा की बनिस्पत सनमाइका का स्पर्श होता है। युगचेतना ही कुछ ऐसी हो गयी है कि सब-कुछ परफॉर्म करना पड़ता है। इस युग में अभिनय का जितना विकास हुआ है उतना संवेदना का नहीं।

मुझे बहुत अचरज होता है जब कुछ शब्द मीराबाई के भेष में मेरे पास आते हैं। इन्हें मैं भक्तिभाव से सुनता हूँ। पर मीरा का भेष धरे बॉलपेन के स्ट्रक्चर में समूचा मेवाड़ भरा हुआ होता है। ऐसे बॉलपेन की चमड़ी चीरो तो उस के भीतर से रटा हुआ मेवाड़ निकलता है। महत्त्वाकांक्षाएँ निकलती हैं। हम शब्दों को मीरा या नरसिंह का मेकअप करा कर जिला नहीं सकते। शब्द को पाना एक बात है और शब्द बन जाना बिलकुल दूसरी बात है। हम सब शब्द को पाने के लिए छटपटाते हैं। पर शब्द ही बन जायें इतना हमारा कलेजा नहीं। कोरे कागज पर हम बॉलपेन का थोथा अभिनय करते हैं।

मुझे अच्छी तरह याद है कि बोलना सीखा तब मैं ने पहला शब्द 'माँ' कहा

था। 'माँ' शब्द में कोई जोड़ाक्षर नहीं है। सीधी-सादी निश्छलता है। इन एकाक्षरी शब्दों में कोई अभिनय नहीं। कोई मेकअप नहीं। इसीलिए 'माँ' शब्द कालक्षय नहीं होता। 'माँ' यानी इन्वॉल्वमेंट। वह अपनी भिन्नता अलगा कर शब्द बन जाती है। इसीलिए वह जीवित रहती है।

मैं चौथी कक्षा में पढ़ता था तब हमारे मकान के छज्जे पर कबूतरों ने घोंसला बना लिया। कबूतरों की फड़फड़ाहट से ओरड़े में पंख ही पंख हो जाते थे। कबूतरों को निकालने के बहुत प्रयास किये, पर वे गये नहीं। यह घोंसले में पड़े सफेद अंडों का आकर्षण था। छड़ी से मारा तब भी उन्होंने ठौर नहीं छोड़ी। पर छज्जे से गिर कर अंडे फूट गये तो कबूतर गायब हो गये। ओरड़ा सूना हो गया। एक दिन मुझे खुराफात सूझी। टेबल टेनिस की गेंद ला कर उन के घोंसले में रख दी। मैं किवाड़ की ओट से कबूतरों की बाट जोहने लगा। थोड़ी देर बाद एक कबूतर उड़ता हुआ आया, घोंसले में बैठा और टेबल टेनिस की गेंद को अंडा समझ कर सेने लगा। गूटर-गूँ करने लगा। पर यह पपेट शॉ अधिक नहीं चला। कबूतर की पाँख के धक्के से गेंद नीचे गिर कर उछली। यह देख कर कबूतर सड़सड़ाट करता उड़ा और बारी से बाहर निकल गया। कबूतर के लिए वह क्षण निभ्रांति का क्षण था। शब्दों के जन्मोत्सव की कथा भी कुछ ऐसी ही है।

यहाँ शब्द को सेने की नहीं, बल्कि उसे जन्म देने की बात है। कई बार हम शब्द को जन्म देने की बजाय उस की गर्भझिल्ली (प्लेसेंटा) को सेते हैं। परिणाम यह होता है कि असंख्य प्रसव करवा कर भी बॉलपेन बाँझ रह जाता है। बकवादी बॉलपेन एक अलग जात है। ये बॉलपेन 'मौन' पर सतत बोलते रहते हैं। एक बॉलपेन को जन्मजात डाइबिटीज है। यह बॉलपेन झंझावात का वर्णन करता है तो झंझावात लास्यनृत्य करता प्रतीत होता है। हमारी गुजराती भाषा स्वांतःसुखाय भाषा है। इस में ऊँचे सुर में नहीं बोला जाता। सब मंद-मंद चलता है। ऊँची आवाज में बोलेंगे तो आवाज बैठ जायेगी या फट जायेगी। फिर तो 'चुप ही भली'।

सर्जक शब्द का स्वामी नहीं, सखा होता है। शब्द को सर्जक के पास बेफिक्र महसूस करना चाहिए। सर्जकता का अश्व हिनहिनाता हुआ खुले मैदान में पूँछ फटकारता दौड़ रहा होता है ऐसे में शब्द किंचित धीमे हो कर फिर सरपट दौड़ने लगते हैं। पर सर्जकता का अश्व जब खुले चारागाह छोड़ कर घोड़ागाड़ी में जुतना पसंद करता है तो शब्द उस के दास बन जाते हैं। वे दाने-पानी के लिए नजर नीची रख कर चलते हैं। इन घोड़ों को आँखों पर डाबले चढ़ा कर सीधे देखने का फर्ज निभाना पड़ता है। गाड़ी में जुता घोड़ा हिनहिनाता नहीं, हिनहिनाने का नाटक करता है।

अभी मैं जिस बॉलपेन से यह निबंध लिख रहा हूँ, वह भी कम मायावी नहीं। इस ने गंभीरता का भेष धरा है। उपदेशक का भेष धरा है। ऐसे बॉलपेनों का कोई भरोसा नहीं। कभी ये पाँव रोप देते हैं तो कभी सरपट दौड़ने लगते हैं। अभी मुझे कोई कोटेशन याद नहीं आ रहा। याद आता तो मैं उसे आप के माथे पर मारे बिना नहीं रहता। जैसे माँ बिना संसार सूना, वैसे ही कोटेशन बिना निबंध सूना। पर हमारी गुजराती सयानी-समझदार भाषा है। यह मरने वाले के लिए 'मर गया' नहीं कहती। माँ तो माँ, बाकी सब फालतू हवा।

प्यास

कभी ऐसा होता है कि गला सूख जाता है। पेट खाली-खाली लगता है। चैत, वैशाख या भादों चल रहा होता है। आकाश से आग बरस रही होती है। ऐसे में नीम की छाँव में खड़े हों तो छाँव को गटागट पी जाने को जी करता है। तीखी धूप हो और लूओं के झपाटे चल रहे हों तो आप को ऐसी प्यास लगती है मानो शरीर का मांस सूख रहा हो। जीभ रण चाट-चाट कर सूखी साग-भाजी जैसी हो जाती है। होंठ बांसुरी बजा सकते हैं, पर प्यास से पपड़ाये होंठ एक बूँद पानी के लिए तरस जाते हैं। होंठों के बोल ककहरे के कोटर में छुप जाते हैं। ऐसी भीषण प्यास का जिसे अनुभव हो वह मानुस समूचे असाढ़ को एक साँस में पी जाये इतनी प्यास रखता है। आप कल्पना करें कि प्यासे कुएँ में कोई मिंदड़ी डाले और उस में से खालीपन का डोल भर कर ऊपर आए। यह खालीपन जीवन का परम सत्य है यह मानने को मन करता है। आज इसी खालीपन की कुछ बात करनी है।

अकस्मात चोट लगी तो मुझे सायन हॉस्पिटल के इमर्जेंसी वार्ड में भर्ती कराया गया। कोई वाहन हमें टक्कर मार कर चला जाये और उस की स्मृति कागज में नामशेष हो जाये ऐसी घड़ी थी। मेरे नसीब में आयी हवा में एनेस्थेसिया और इथर की बास थी। खून की बोतलें सतत चढ़ रही थीं। शस्त्रक्रिया करते डॉक्टरों के ढके हुए चेहरे ऑपरेशन थियेटर में कार्यरत थे। इमरजेंसी वार्ड से बाहर आया तो जाने कैसे मुझे भयंकर प्यास महसूस हुई। गला सूखने लगा। सारा शरीर जैसे तपता रण बन गया। डॉक्टरों से पानी माँगा तो वे मुँह फेर कर चले गये। ग्लूकोज सेलाइन की बोतलें चढ़ती रहीं। एनेस्थेसिया की मीठी ऊँघ आँखों में भरी हुई थी। पलंग के इर्द-गिर्द खड़े स्वजनों से पानी माँगा। वे लाचारी से मेरी प्यास को ऑब्जेक्टिव्ली देखते रहे। बड़े ऑपरेशन के बाद मरीज को पानी न दिया जाये इस की सख्त हिदायत होती है। पर मेरी प्यास इतनी बढ़ गयी कि वैशाख की तपती दुपहरी में डॉक्टरों का पैनल मुआयना करने आया तो मैं ने निसहाय हो कर चुल्लू भर पानी माँगा। डॉक्टरों ने कोई जवाब नहीं दिया। मेरी बात सुनी-अनसुनी कर दी। मैं ने फिर ऊँची आवाज में पानी पिलाने की विनती की। उन्होंने फिर भी कान नहीं दिया। ऐसी प्यास और यह उपेक्षा! मैं इतना चिढ़ गया कि डॉक्टरों से सीधे-सीधे पूछा, "आप मुझे दो बूँद पानी भी नहीं पिला सकते? मिसीसिपी, नील, एमेजन, गंगा, नर्मदा सब सूख गयी हैं क्या? दुनिया में पानी का अकाल पड़ गया है? मैं आप से पानी माँगता

हूँ और आप यूँ मुँह फेर लेते हैं जैसे पंच महाभूत में से जल तत्त्व नामशेष हो गया हो। कुएँ सूख गये हों। नदियाँ सूख गयी हों।" मेरे प्रलाप पर डॉक्टर तनिक हँसे और चले गये। तमाम दुपहरी मैं एक बूँद पानी के लिए छटपटाता रहा। एक क्षण मुझे ऐसा खयाल आया कि असाढ़ के बादलों में जा कर लोटूँ। गंगा को वाटरबैग में भर लूँ। अपने सूखते मांस को चुल्लू भर पानी में खँखाल लूँ। अंततः प्यास असह्य हो गयी। मन हुआ कि खूब रोऊं और आँखों से बहते पानी को पी जाऊँ। पर वह घड़ी ऐसी थी कि आप दयावश झार-झार रोयें तब भी आँख से एक बूंद न निकले। चुल्लू भर पानी पी लूँ तो मृत्यु के नजदीक पहुँच जाऊँ और प्यासा रहूँ तो कदाचित जी जाऊँ। उस वखत कुछ ऐसा ही लॉजिक था। वह प्यास मृत्यु की थी या जीवन की, यह मैं आज तक नहीं समझ पाया।

मनुष्य का जीवन बचाने के लिए हम कितने हाथ-पैर मारते हैं! यह देख कर कहने को मन होता है कि यह सब मसखरी है। कभी हम बाल-बाल बच जाते हैं तो यह कहने को मन करता है कि मृत्यु कैंसिल नहीं हुई, मुल्तवी हो गयी। अपनी मुल्तवी हो गई मृत्यु का चेहरा मुझे अच्छी तरह याद है। यह चेहरा भयानक मुखौटा पहने आता है। आप का खून चूस लेता है। पिंडली से मांस नोच लेता है। स्याही चूस की माफिक शरीर का पानी चूस लेता है। पर उस घड़ी बुद्धि यों काफूर हो जाती है कि आप को कुछ इल्म नहीं होता। एनेस्थेसिया में जागृति से ज्यादा सुख है। हम जाग कर देखते हैं तो जगत दिखता नहीं। फिर जीना होगा, इस विचार का भार इतना अधिक लगता है कि उसे वहन करने में भाषा लूली हो जाती है। प्यास के इस अनुभव के बाद मुझे लगा कि मैं एक घड़ा पानी और एक टंकी ऑक्सिजन ले कर पैदा हुआ था। हवा के भंडार को स्रष्टा ने सब के सामने खुला रख दिया था। हरेक ने अपने हिस्से की हवा सिलेंडर में भर ली। किसी का सिलेंडर बीस बरस चलता है तो किसी का पचास वरस। जैसे गैस की टंकी नियत समय में खलास हो जाती है वैसे ही मानुस का सिलेंडर भी खलास हो जाता है। आप के भाग्य में लिखी हवा खलास हो जाती है तो नाक को हवा की प्यास लगती है। आँख को आँसू की प्यास लगती है और जीभ को भाषा की प्यास लगती है। कान को ध्वनि की प्यास लगती है। अंगुलियों को स्पर्श की प्यास लगती है। पाँवों को पगडंडी की प्यास लगती है। मनुष्य के अस्तित्व का मजा यह है कि आप के पास हवा हो कर भी नहीं होती। पानी हो कर भी नहीं होता। भाषा हो कर भी नहीं होती। यह हो कर भी नहीं होने की परिस्थिति ऐसी है कि हम नियति से फरियाद भी नहीं कर सकते।

मृत्यु की घड़ी ऐसी घड़ी है कि एक झटके में सब छोड़ना पड़ता है। हम से

छूटता नहीं, पर यम के फरसे के एक ही झटके में सब छूट जाता है। कट जाता है। हॉस्पिटल में रह कर मृत्यु मुझे ऑपरेशन की तरह लगती है। हम साठेक बरस का लोह-लक्कड़ इकट्ठा कर के जी रहे होते हैं। दुनिया की नजर में एकदम तंदुरुस्त। नख में भी रोग नहीं। पर सर्जन यमराज को लगता है कि अब इस जीवन का ऑपरेशन करना चाहिए। तभी वह मृत्यु का सर्जन करता है। मृत्यु को जन्म देता है। हम निर्बल जीव घबरा कर भयभीत चेहरे लिये गहरे साँस ले कर फेफड़ों में चाहे जितनी हवा भर रखें, मांसपेशियों को विटामिनों का चारा-पानी दे-दे कर बचाने की लाख कोशिश करें, पर मृत्यु का एनेस्थेसिया फेफड़ों में बच रही हवा को लोरी गा कर सुला देता है। जागृति और चेतना के जहर से छटपटाता मानुस अंतकाल के नजदीक आता है तो मीठी-ऊँघ में सरकता दिखता है। हमारे गाँव में यदि छोटा बच्चा बहुत परेशान करता है, माँ को घर का कामकाज नहीं करने देता तो माँ बच्चे को चम्मच भर अफीम पिला कर सुला देती है। बच्चा गहरी नींद सो जाता है। पालने में बेसुध सोये इस बच्चे को देख कर मुझे लगता है जैसे यम हमारे पालने की डोरी अपने पाँव के अँगूठे से बाँध कर लोरी गा रहा है। यम के सुरीले कंठ से निकली मृत्यु की लोरी कान में गहना बन कर झूलने लगती है। खरी-खरी कहूँ तो हमारे कान को मृत्यु की लोरी की प्यास लगती है। यम चाहे लाख क्रूर हो, पर उस की क्रूरता में मुझे चीर-फाड़ करते डॉक्टर की दयालुता नजर आती है। मरूस्थल का तपा हुआ एक-एक कण पहली बौछार से ठंडाबोल हो जाता है। ऐसे ही मृत्यु की थोड़ीक बौछार से मानुस छलकने लगता है। बचपन में हमें डराने के लिए कोई बाघ का मुखौटा पहन कर आता है तो हम बुक्का फाड़ कर रोने लगते हैं। पर मुखौटा हटता है तो उस के पीछे अपने भाई-बंधु छगन का चेहरा दिखता है। ऐसे ही मृत्यु का मुखौटा हटा कर देखें तो कोई परिचित चेहरा दिखायी देगा। परिचित चेहरों को देखने की भी प्यास होती है। अजाने चेहरों के जंगल में हम रास्ता भूल जायें और कोई परिचित चेहरा दिख जाये तो हमारी प्यास हिरन के वेग से भाग जाती है। खरी बात तो यह है कि प्यास के पेंदा नहीं होता। वह सतत लगी रहती है। पानी के लोटे के तला है, पर शरीर के घड़े में पानी ठंडा नहीं होता। प्यास क्षण-क्षण विस्तृत होती जाती है। घड़ा फूट जाये और उस की एक-एक ठीकरी मिट्टी में मिल जाये तब भी इस घड़े में ठसाठस भरी प्यास का मुँह तो मिलता है, पर तला नहीं मिलता।

अंगूर की पेटी ले कर ग्रीष्म आया

गरमियाँ आते ही एक तरह का मीठा आलस पसर जाता है। रास्ते में तरबूज के ढेर देख कर लगता है जैसे तरबूज ग्रीष्म का सर है। यह सरफिरा ग्रीष्म किसी को नहीं छोड़ेगा। हमारे गाँव की गली में गरमियाँ आते ही अचार डालने का मौसम आ जाता था। गली की औरतें लहँगा उड़स कर काम में जुटी दिखती थीं। ओसारे में पिंजरे के तोते की टिव-टिव शुरू हो जाती थी। छत पर गादले-गूदड़े सूखने के लिए डाल दिये जाते थे। दुपहरी में आमरस और रोटी खा कर सब जमीन पर पसरे दिखते थे। इस कदर गरम होती थी कि तर तौलिया ओढ़ कर बैठते थे तो भाप उठती थी। सूरज तपता होता तो किसी की बाहर निकलने की हिम्मत नहीं होती थी। बर्फ के गोले और कुल्फी के ठेले को छोड़ कर समूची गली पथरायी हुई लगती थी।

गरमी के मौसम का अपना आनंद है। ग्रीष्म की संध्या इतनी सरस होती है कि उसे सेफ डिपॉजिट वोल्ट में रखने की इच्छा होती है। गरमी की रातों में छत पर सोने का जो आनंद है वह मुंबई जैसे शहर में दुर्लभ है। हम मुंबई जैसे महाकाय शहर में रहने वाले गरमियों के असली अनुभव से कोरे रह जाते हैं। जहाँ देखो वहीं एयरकंडीशनरों के डबलों ने ग्रीष्म को देशनिकाला दे रखा है। ग्रीष्म को हम ने बिन बुलाये मेहमान की तरह दरवाजे के बाहर खड़ा कर रखा है। एयरकंडीशनरों ने हमें ग्रीष्म के कुदरती अनुभव से विलग कर दिया है। मुझे लगता है कि हमारी त्वचा ने मौसम की संवेदना गँवा दी है। मई की बरसती आग में सर पर गीला नेपकीन रख कर वृक्ष की छाया में खड़े रहने के आनंद से हम महरूम हो गये हैं।

एक गुलमोहर ही है जो ग्रीष्म रितु का हृदय से स्वागत करता है। भीषण गरमी में गुलमोहर लालचटाक फूल धारण कर के मुस्कराता है। पहले गरमियाँ आती थीं तो वृक्ष की छाया का महत्त्व बढ़ जाता था। पर अब हम ने इतनी सुविधाएँ जुटा ली हैं कि छाया किसी गिनती में नहीं आती। घेर-घुमेर वृक्ष की छाया में खाट डाल कर पड़े रहने में जो मजा है वह एयरकंडीशन गुफाओं में कहाँ! लोग गरमी से बचने के लिए हिल-स्टेशन जाते हैं। पर वहाँ भी उन्हें एयरकंडीशन कमरों में बंद रहने की टेव पड़ गयी है। घड़ौंची में गीली बालू पर रखी नयी मटकियों का ठंडा पानी पीने में जो स्वाद आता था वह रेफ्रीजेटर की बोतलों में कहाँ!

हमारा शहरी जीवन दिनोंदिन कृत्रिम होता जा रहा है यह शिकायत अब बासी हो गयी है। कच्चे आम के हरे रंग जैसा जीवन पक कर सयाना हो गया है। इस

महानगर में अब एक भी मानुस कच्चा नहीं बचा। मुझे लगता है कि जितने हम परिपक्व होते जाते हैं उतना ही बचपन मरता जाता है। रितु परिवर्तन का जितना आनंद बच्चे ले सकते हैं उतना हम नहीं। आम के रूँख पर पत्थर फेंक कर कच्ची केरी गिराते बच्चे को देखता हूँ तो मुझे लगता है शहरी संस्कृति के आक्रमण से यह बच्चा बच गया। इसे सँभाल कर रखना चाहिए। शिक्षा की ओढ़ी हुई सिधाई की होली जला कर फाग में थोड़ाक भीगेंगे तभी कछुए के खपड़े जैसी हमारी चमड़ी को रंग का रोमांच होगा।

मुझे गरमियाँ बहुत रास आती हैं। स्कूल के गेट के पास बर्फ के गोले वाले को खड़े देखता हूँ तो सभ्यता के कपड़े तार-तार कर वहाँ दौड़ जाने को जी करता है। तपती दुपहरी में धूल भरे रास्ते पर लू के थपेड़े खाते हुए चलने को जी करता है। गरमियों के साथ वेकेशन जुड़ा हुआ है। इसलिए अस्थायी निवृति का अधूरा, पर मधुर अहसास होता है। होमवर्क के नागपाश से मुक्त बच्चा कितना प्यारा लगता है ! मार्च-अप्रैल में परीक्षाओं का हरिण्यकश्यप गुर्राता हुआ खड़ा है, फिर भी निर्दोष प्रह्लाद वेकेशन के तपे हुए खंभे को गले लगाने को आतुर है। वृक्षों की घटादार छाया लहरा रही है। अब दुपहरी और तेज होगी। तपत और बढ़ेगी। एक उर्दू कवि ने गरमियों की तपती दुपहरी के लिए लिखा है कि 'दुपहर मुझे नारियल समझ कर पी रही है।' भले ही हमें पी जाये, फिर भी ग्रीष्म अंगूर की पेटी में सहेज कर रखने लायक है।

आसमान को चिट्ठी लिखने का मौसम

मकर संक्रांति जैसे-जैसे नजदीक आती जाती है वैसे-वैसे पतंग का कागज बन कर उड़ जाने को जी करता है। पतंग और डोर का संबंध तिल के लड्डू की तरह क्षणजीवी नहीं होता। कागज के एक टुकड़े को आसमान दिखाना, आसमान में उड़ान भराना यह मकर संक्रांति की महिमा है। साल के तीन सौ पैंसठ दिनों में यही एक दिन है जब हम आसमान को निहारते हैं। उड़ती पतंग तो आसमान को देखने का एक बहाना है। हम छत पर चढ़ कर रंग-रंगीली पतंगों देखते हैं, आसमान को नहीं। आसमान तो दूर, असंख्य पतंगों में भी मैं अपनी पतंग ही देखता हूँ। आसमान को देखने में मेरी पतंग मेरे आड़े आती है।

आसमान को देखते वखत मैं खो जाता हूँ। मुझे अपना पता-ठिकाना याद नहीं रहता। जिस दिन हम अपना पता-ठिकाना भूल जायें उस दिन समझिये आसमान के साथ हमारी भाईबंदी हो गयी। पर यह भाईबंदी बहुत महँगी पड़ती है। कोई मानुस खो जाने के लिए राजी नहीं होता। खो जाने में भय है। असलामती है। भय के मारे मानुस अपने पते-ठिकाने की चरखी हाथ से छूटने नहीं देता। हम मुंबईवासी भले ही स्काईस्क्रैपर में रहते हों, पर आसमान को देखने की हमारी हिम्मत नहीं। कभी हेली धूमकेतू या उल्कापात देखने के लिए हम छत पर जाते हैं, पर आसमान के सूनेपन को देखने के लिए हम दूरबीन नहीं लगाते।

किसी की आँखों में मोतिया हो जाये तो समझ सकते हैं कि मोतिया निकलवाये बिना दिख नहीं सकता। पर मुंबईवासी की अँधेरे में भी देख सकने वाली आँखों को बेवखत मोतिया हो गया है।

हमारी आँखों को रेलवे के इंडीकेटर का मोतिया हो गया है। विजिटिंग कार्ड का मोतिया हो गया है। रिलायंस डिबेंचर का मोतिया हो गया है। अमिताभ बच्चन का मोतिया हो गया है। टीवी का मोतिया हो गया है। विज्ञापनों का मोतिया हो गया है। पोस्टरों का मोतिया हो गया है। थोकबंध समसामयिकता का मोतिया हो गया है। अब आप ही बतायें इस मोतिये का ऑपरेशन कराने के लिए कहाँ जाऊँ? इस मोतिये का ऑपरेशन हो तो आँखों में मकर संक्रांति का आकाश घोंसला बनाये।

मकर संक्रांति का आकाश नयी अनुभूति जगाता है। नीले आसमान में डोलती सफेद बदलियाँ एक भिन्न सौंदर्य रचती हैं। विविध रंगों की पतंगों को देख कर लगता है कि आसमान के पते पर आज थोक में डाक आयी है। पतंग डोलती है या गोते

लगाती है तो आकाश भी डोलता दिखता है। हमारे हाथ में चरखी हो और सड़सड़ाट करता धागा खिंचता जा रहा हो तो लगता है जैसे हम आकाश को उड़ा रहे हों। उत्तरायण का आकाश इतना सुंदर लगता है कि उसे चरखी पर लपेटने को जी करता है। पर आकाश को चरखी पर लपेटने लगते हैं तो हमारी चरखी उतर जाती है। हमारी पहुंच पतंग तक ही है। इसलिए पतंग का उत्सव मना कर खुश हो लेते हैं।

मुंबईवासी के नसीब में छत कहाँ! वे बारी की दरार से आकाश देखते हैं। बारी के चौखटे से आकाश देखते हैं। स्क्वेयर फीट के चौखटे से आकाश देखते हैं। घोड़े को गाड़ी में जोत़ते हैं तो उस की आँखों पर डाबला चढ़ा देते हैं। घोड़े की आँखें उतना ही देखती हैं जितना उस का मालिक कहे। उस से ज्यादा देखने की मनाही है। हम सब शक्ति से हिनहिनाते घोड़े हैं। चेतना से स्पंदित। पर गाड़ी में ज़ुते हुए। इसलिए जितना मुंबई कहती है उतना ही देखते हैं। जिधर कहती है उधर ही देखते हैं। इन परिस्थितियों में अगर आकाश देखने की जिद करेंगे तो खो जायेंगे। खो जाने का आनंद हम ने कभी जाना नहीं, न कभी जानने की कोशिश की। इसलिए मकर संक्रांति के दिन तिल के लड्डूओं का आदान-प्रदान कर के जिंदगी का उत्सव मनाते हैं। घर में छत हो तो पतंग उड़ाते हैं। घर के सामान में अपने सिवा कुछ न हो तो सड़कें नापिए! सूर्य उत्तरायण होता है तो हम दक्षिणायण होते हैं।

एक बात कहूँ? आसमान हमें कभी नहीं छोड़ता। वह हरदम हमारे साथ होता है। वह छाया की तरह हमारे साथ लगा रहता है। हम सब खाली घड़े की तरह अपना-अपना आकाश लिये फिरते हैं। किसी दिन हमारा घड़ा फूट जाता है तो उस में से निकले आकाश को देख कर कृष्ण हँसते हैं और कहते हैं, "तेरा घड़ा सलामत नहीं।" मकर संक्रांति आसमान को पत्र लिखने का मौसम है। छत या खुला मैदान हमारा पता है। आसमान का कोई पता-ठिकाना नहीं होता। जो सर्वत्र है उस का पता-ठिकाना क्या लिखना!

नगण्यता का उत्सव

हर आदमी की यह इच्छा होती है कि कोई उसे पूछे, उसे स्वीकार करे। जब तक उस की पूछ नहीं होती उस का संघर्ष सतत चलता रहता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र को देखिये, स्वीकृति के पीछे मानुस के पागलपन का अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। हमारे यहाँ कहते हैं कि उपेक्षा से अधिक कोई असरदार शस्त्र नहीं। आदमी कुछ भी सहन कर सकता है, पर उपेक्षा नहीं। मेरा कौन नोटिस लेता है! मुझे कौन गिनता है! मुझे कौन पूछता है! मेरी किसे पड़ी है! मेरे भाग्य में यश कहाँ! किसी ने मेरा उल्लेख ही नहीं किया। मुझे किनारे कर दिया, ज्यादातर साहित्यकारों को यह गिला रहता है। ऐसे अनेक वाक्यों द्वारा प्रकट असंतोष आप को ठौर-ठौर मिलेगा। अलबत्ता यह सही है कि असंतोष के बिना ऊर्ध्वगामी नहीं हुआ जाता। पर ऐसे असंतोष के पीछे खुद को स्थापित करने की वृत्ति विशेष रूप से काम कर रही होती है। हर आदमी केंद्र में रहना चाहता है। जब उसे केंद्र में स्थान नहीं मिलता तो दुखी होता है और फिर शिकायत करता फिरता है।

इस का कारण यह है कि हमारा जीवन पराधीन है। जब तक हमें दूसरों के स्वीकार की अपेक्षा है तब तक मैं नहीं समझता कि हम स्वाधीन हैं। औरों का स्वीकार-अस्वीकार मेरे जीवन का आधार है तो ऐसे जीवन से मुझे क्या मिलेगा? कुछ सर्टिफिकेट। कुछ मानपत्र। कुछ पुरस्कार। थोड़ीक वाहवाही। थोड़ीक सत्ता। थोड़ीक प्रसिद्धि। और थोड़ेक पैसे। इन्हें क्या हम उपलब्धि कहेंगे? मानपत्र को हर साल पॉलिस करवाने से अंदर का असंतोष कम हो जायेगा? बड़े से बड़े पुरस्कार से भी हमारा असंतोष पिघल जायेगा इस की कोई गारंटी नहीं। सारे इनाम-इकराम रोते बच्चे को चुप करने के लिए विधाताप्रदत्त खिलौने हैं। खिलौनों के साथ हम खेल सकते हैं जी नहीं सकते। जो मात्र खेलने के लिए है उस के आधार पर जीने का ढोंग करना दुख की शुरुआत है।

इन दिनों बसंत रितु की पदचाप ठौर-ठौर सुनायी पड़ती है। घाटी में खिले असंख्य फूल हवा के संग बतिया रहे हैं। हरी-हरी पगडंडियाँ बल खाती हुई सरपट दौड़ी जा रही हैं। जंगल रंगीन हो गये हैं। पंखेरुओं के मधुर कलरव के गहने पहने वृक्षों की शोभा नवेली दुलहन की तरह शरमाती हुई खड़ी है। रंग-बिरंगी तितलियों की बाँकी उड़ान देख कर लगता है जैसे आसमान की दीवार पर किसी ने रंगीन स्याही छितरा दी हो। कुदरत की गोद में इतना कुछ हो रहा है। पर इन के केंद्र

में कुदरत के अलावा कोई नहीं। पँखेरु के केंद्र में उड़ान है। फूल के केंद्र में खिलना है। पँखेरुओं को कोई देखे न देखे, वे उड़ेंगे ही। फूल को कोई गिने न गिने, वे खिलेंगे ही। कुदरत का इतना वैभव छलका पड़ रहा है। पर उस की खबर अखबार के पहले पन्ने पर नहीं छपती। फिर भी तितली पंख मोड़ कर नहीं उड़ती। पक्षियों का कलरव बेसुरा नहीं होता। फूल हड़ताल नहीं करते। यह कुदरत की नगण्यता का महोत्सव है।

ऐसे ही जब हम नगण्यता का महोत्सव मनाते हैं तो हमारे सारे दुख पिघल कर झरने की तरह कलकल बहने लगते हैं। तब कोई गिला-शिकवा शेष नहीं रह जाता। विश्व का सर्वोच्च पुरस्कार आप किसी पक्षी को दें और पुरस्कार की तख्ती उस के घोंसले में रख दें तो मुझे पक्का भरोसा है कि वह अगले ही दिन अपना घोंसला बदल देगा। ऐसा क्यों? वह इस लिए कि उस पक्षी के आकाश देखने में वह पुरस्कार आड़े आता है। कोई हमें गिनता है कि नहीं इस से हमें क्या सुख मिलता है? रुई के पोल जैसे हलके जीवन को उपेक्षा लील लेती है तो वह बहुत भारी हो जाता है। समंदर की लहरें प्रति पल बनती-बिगड़ती हैं। हजारों बरसों से असंख्य लहरें नगण्य अवस्था में उठ-गिर रही हैं। ये लहरें कितनी हलकी हैं! रवींद्रनाथ ने क्या खूब कहा है—'जीवन का रथ तेजी से दौड़ रहा है। रथ के पीछे उड़ती धूल मेरा यश है।' रवींद्रनाथ का यह कथन कितना मार्मिक है! हमारा हाल यह है कि हमारे जीवन का रथ दौड़ ही नहीं रहा। थोड़ाक चलता है। थोड़ीक धूल उड़ती है। तुरंत उस धूल में हमारा मन रम जाता है। सच पूछो तो हम चलते ही नहीं। चलते नहीं इसलिए धूल नहीं उड़ती। प्रमाद के वृक्ष की छाया में बैठे-बैठे हम एक-दूजे से कहते रहते हैं कि इतने चले फिर भी धूल क्यों नहीं उड़ी? हम अपनी धूलमुखी दृष्टि को झटकते रहें तो आँख की तंदुरुस्ती बनी रहेगी। फिर अंजन की आवश्यकता नहीं होगी।

मेरे लहू की नदी को गोकुल की धरती नहीं मिली

मखमली मोरपंख ट्रेफिक से धमधमाती सड़क पर पड़ा हो तो किसी की नजर में नहीं आता। स्कूल के दिनों में कहीं मोरपंख हाथ लग जाता था तो दिल ता-थई नाचने लगता था। मोरपंख को किताब में दबा कर खींचते थे तो वह चुंबक बन जाता था। कागज के छोटे-छोटे टुकड़ों को झट खींच लेता था। मोरपंख का चुंबकीय असर इतना प्रबल होता था कि खुले मैदान में मोर छतरी फैला कर नाच रहा होता तो लगता था जैसे आसमान खिंच कर जमीन पर आ गिरेगा। नाच के उपरांत मोर पंख समेट कर उड़ जाता तो आसमान की ठौर हम खिंचे हुए दौड़े जाते थे। मोर अपना एकाध पंख पीछे छोड़ जाता था तो हमें बैकुंठ मिलने का-सा आनंद आता था। रास्ते में कहीं सिगरेट का पैकेट हाथ लग जाता तो उस की सुनहरी पन्नी पा कर कोलंबस को हिंदुस्तान मिलने जितना आनंद आता था। बड़ी और अचरज वाली चीजों में आनंद मिलता है तो समझ में आता है। छोटी चीजों में आनंद लेने की हमारी प्रवृत्ति अब नहीं रही। हम ने बड़ी-बड़ी बातों को इतना महत्त्व दे दिया है कि हम छोटी-छोटी बातों का आनंद भूल गये। आज सुपरमैन और सुपर कंप्यूटर हमारे दिलोदिमाग पर छाये हुए हैं। 'सुपर' शब्द आज के जमाने की उपज है। चींटी अपने हिस्से में आये कण को खींच कर बिल तक लाती है। दो बालिश्त के रास्ते को पार करने में उसे एड़ी-चोटी का जोर लगाना पड़ता है। उस का श्रम देख कर यह कहने को मन करता है कि पूर्णविराम से भी छोटी चींटी अल्पविराम करते-करते बिल तक पहुँचती है तो उसे महायात्रा का अनुभव होता है। हमारी आँखें छोटी चीजों को देखना भूल गयी हैं। कई बार हम किताब में रखे मोरपंख को चुंबक बना कर चींटियों के बिल के पास रखते थे तो चींटियाँ खिंची चली आती थीं। जीवित चींटियाँ अपना मार्ग भूल जाती थीं और मृत चींटियाँ खिंच कर मोरपंख से चिपक जाती थीं। आज बचपन की बातें याद करते हुए मुझे समझ में आता है कि जो फूल की तरह हलका है वह तुरंत खिंचता है और जो भारी है वह जस का तस पड़ा रहता है। कृष्ण के मोरमुकुट में मुझे आकर्षण की आँख दिखती है। कदाचित् गोपियाँ और ग्वाले मोरमुकुट के आकर्षण से कन्हैया के पास खिंचे चले आते थे ऐसा कहने में कुछ गलत नहीं। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गोपियाँ और ग्वाले चींटी की तरह हलके रहे होंगे। तभी वे कृष्ण की भ्रमणकक्षा में खिंचे चले आये। मुझे कृष्ण का शैशव बहुत आकर्षित करता है। सच पूछो तो हर मानुस के किसी कोने

में शैशव का मोरपंख पड़ा है। वह सतत खींचता है। कृष्ण के शैशव में बालसुलभ चंचलता है। खिलंदड़ता है। धींगामस्ती है। नंददुलारे ने सारे गोकुल को सर पर उठा रखा है। यशोदा के नाकों दम आ गया है। वह कृष्ण को डोरी से बाँधती है तो डोरी छोटी पड़ जाती है। ऐसे ही हम कृष्ण की बाललीलाओं को शब्दों में बाँधते हैं तो भाषा छोटी पड़ जाती है। भाषा के पोतड़े में कृष्ण बँधते नहीं। कृष्ण का बचपन एकदम सरल है। वे यमुना काँठे ग्वालों के संग गेंद-डंडा खेल रहे होते हैं। गेंद यमुना में गिर जाती है। कृष्ण कालियामर्दन कर के गेंद निकाल लाते हैं। यह प्रसंग सब जानते हैं। इस प्रसंग में कृष्ण के कालिया नाग को परास्त करने पर मुझे आनंद नहीं आता। आनंद तो गेंद वापस मिलने में है। इस प्रसंग में खेल चालू रहना चाहिए यह सत्य समाया हुआ है। कृष्ण जानते हैं कि गेंद नहीं मिली तो खेल रुक जायेगा। नयी गेंद लायेंगे तो नया डाव होगा। कृष्ण ने देखा कि उसी गेंद से डाव आगे चलना चाहिए। क्रिकेट में चालू ओवर पूरा हुए बिना नयी गेंद नहीं आ सकती ऐसा नियम है। मजे की बात यह है कि कृष्ण इतने समर्थ होते हुए भी खेल के नियमों का पालन करते हैं। कई पंडित कहेंगे कि एक मामूली गेंद के लिए कृष्ण को यमुना में कूदने का जोखिम नहीं उठाना चाहिए था। वह दूसरी गेंद ला कर डाव जारी रख सकते थे। यह कहने वाले मित्र यह नहीं जानते कि यमुना में कूद कर कृष्ण ने खेल के नियमों की रक्षा की। स्पोर्टमैनशिप को जीवित रखा। यहाँ गेंद या कालियामर्दन तो निमित्त मात्र है। मुख्य बात है खेल। गेंद शैशव का प्रतीक है। यमुना से गेंद निकाल कर कृष्ण ने खेल भावना और शैशव को कालिया नाग के से बचा लिया। आज शैशव और युवावस्था की गेंद ड्रग्स के कालिया नाग के आंटे में फंस गयी है। यह गेंद वापस कौन लायेगा? कृष्ण माटी खाते हुए पकड़े जायें और यशोदा बालकृष्ण का मुँह खोल कर देखे तो उसे कृष्ण के मुँह में ब्रह्मांड दिखायी देता है। यह प्रसंग कपोल कल्पना नहीं है। यह तर्कसंगत है। कृष्ण भी दूसरे बच्चों की तरह माटी खाते थे। पानी की एक बूँद में हम सागर की गुघवाट सुन सकते हैं तो माटी के एक कण में ब्रह्मांड क्यों नहीं देख सकते? आज कृष्ण की जीवनलीला पर शोध करने के लिए कई पढ़ाकू हाथ धो कर पीछे पड़े हैं। नये-नये अर्थ सामने आ रहे हैं। नौसिखिये पढ़ाकुओं को कृष्ण के मुँह में ब्रह्मांड नजर नहीं आता। पर इस में उन का दोष नहीं। कृष्ण के मुँह में ब्रह्मांड देखने के लिए मोटे काच का चश्मा नहीं, आँखें चाहिए। दोष हमारा नहीं, हमारी आँखों का है। आप को अगर अपने बाल-बच्चों में संसार का सुख नजर आता है तो कृष्ण के मुँह में ब्रह्मांड कैसे नहीं दिखता? मैं चमत्कार की नहीं, तर्क की बात कर रहा हूँ। कृष्ण का मोरपंख

मुझे खींचता है। मैं गोकुल के मैदान में चल रहे मैच का प्रेक्षक हूँ। यहाँ गोकुल मेरे लिए गाँव नहीं, भाव है। कृष्ण भगवान नहीं, बालसखा है।

कृष्ण और बाँसुरी का संबंध भी नये अर्थ में प्रकट होता है। जर्मनी के हेमलीन शहर में बाँसुरी वाला आता है तो उस की धुन सुन कर चूहे और बच्चे बाहर आ जाते हैं। ऐसे ही कृष्ण की बाँसुरी सुन कर गोपियाँ और ग्वाले खिंचे चले आते हैं। यहाँ बाँसुरी की नहीं, सुर की महिमा है। मैं बाँसुरी बजाऊँ तो निश्चित ही मेरे घर वाले और पड़ोसी बाहर चले जायेंगे। पर कृष्ण की बाँसुरी से सब खिंचे चले आते थे। यहाँ समझने की बात यह है कि कृष्ण की बाँसुरी आदमी को आदमी से जोड़ती है। फूँक तो सब के पास है। कोई दीया बुझाने के लिए फूँक मारता है तो कोई चूल्हा चेताने के लिए। कोई चोट की जलन कम करने के लिए फूँक मारता है तो कोई शंख बजाने के लिए। कोई गुब्बारे में फूँक मार कर हवा को कैद कर लेता है। मंथरा केकैयी के कान में फूँक मारती है। ननद सास के कान में फूँक मारती है। कोई सिगरेट का कस खींच कर फूँक मारता है। आप ही सोचें, क्या हमारी फूँक कृष्ण की फूँक जितनी निरोगी है? बाँसुरी भी जिस की फूँक से कृतार्थ हो जाये ऐसी फूँक अब कहाँ! मुझे अक्सर ऐसा लगता है कि कृष्ण की फूँक से बाँसुरी को भी ऐसा लगा होगा कि वह सुर बन कर उड़ जाये। जिस की फूँक निरोगी होती है उस का शब्द टिकाऊ होता है। मेरे लिए कृष्ण इतिहास का पात्र नहीं, रगों में बहता लहू है। बहते लहू की लय बाँसुरी के छिद्रों से छितरा जाती है। अंजुलि से रिस जाती है। मेरे लहू की नदी को गोकुल की धरती नहीं मिली।

हाथघड़ी में सेकंड की सूई सतत चलती रहती है। ड्राइंगरूम में बोलक घड़ियाँ टनकोरा बजाती दौड़ती रहती हैं। पाठशाला की घंटी सतत झनझनाती रहती है। रेलवे के समयपत्रक मुजब ट्रेनें आती-जाती रहती हैं। रितुएँ बदलती रहती हैं। सब चलता रहता है। पर हम ठाले बैठे हों तो शिकायत करते हैं कि समय नहीं कटता। आप रेल में मुसाफिरी कर रहे हों तो फेरी वाला आप के पास छोटा-सा खिलौना ला कर रख देता है और कहता है—'टाइम पास'। चर्च गेट के बुकस्टाल पर रेलवे टाइमटेबल खरीदने वाले मोटे काच के चश्मे से चींटी की टाँग जैसे अक्षर ढूँढ़ते हुए कहते हैं, "ट्रेनें वखतसर नहीं चलतीं।" हम सब समय के जंजाल में ऐसे फँसे हैं कि 'समय नहीं कटता' की व्यथा एक-दूजे के आगे अलापते रहते हैं। मुंबई जैसे शहर में स्थिति उलटी है। मुंबईवासी के लिए चौबीस घंटे का दिन पूरा नहीं पड़ता। वह इतने कामों में उलझा रहता है कि उसे समय का पता ही नहीं चलता। मुंबईवासी की यह विशेषता है कि वह घड़ी के काँटों के साथ जाता है और घड़ी के काँटों के साथ आता है। कई बार मुंबईवासी छुट्टियाँ बिताने अपने गाँव जाता है। एक राहत की साँस के साथ वह गाड़ी में बैठता है। पर बीस-पच्चीस हजार की बस्ती वाले गाँव में दो-चार दिन ही उस का जी लगता है। एकाध हफ्ता बीतते न बीतते उस के पाँव पर चींटियाँ चढ़ने लगती हैं और उसे मुंबई की याद सताने लगती है। वेकेशन की क्षणिक फुरसत उसे काटने लगती है। हथेली जितने गाँव में मुंबईवासी का समय नहीं कटता।

समय के बारे में विचार करता हूँ तो लगता है समय अपनी गति और लय से सतत बह रहा है। हम समय के साथ कदम से कदम मिला कर नहीं चल पाते। कई बार हम उतावले होते हैं तो कई बार कछुए की तरह धीमी गति से चल रहे होते हैं। मुंबई जैसे शहर में समय हड़बड़ाया हुआ भागता है। सवेरे चर्च गेट या वी.टी. स्टेशन पर देखें तो समय आवाज की गति से भागता लगता है। पर समय उतावला नहीं होता। समय की अपनी निश्चित और स्थिर गति है। उतावले हम हैं। मुंबईवासी के रोम-रोम में हड़बड़ी और भाग-दौड़ उग आयी है। किसी न किसी एपॉइंटमेंट में फँसा महानगर का मानुस डायरी में कैद हो गया है। कलेंडर के पन्नों पर समय के पाँव तो दिखते हैं, पर पदचाप सुनायी नहीं पड़ती। मुंबई के अधिकतर

---

* यानी चूके अवसर का पछतावा सौ बरस तक मन में रहता है।—अनु०

घरों में कलेंडर का उपयोग गैस और दूध का हिसाब रखने के लिए होता है। 'कालनिर्णय' जैसे कलेंडर में रिटायर्ड स्त्री-पुरुष अधीरता से ग्यारस की बाट जोहते हैं। हम ने समय को अंग्रेजी नाम दे दिया है। पर इस से समय की गति में फर्क नहीं पड़ता। दरअसल क्षण का जितना महत्त्व है उतना समय का नहीं। हम समय को सँभालना जानते हैं, क्षण को नहीं। 'बूँद से बिगड़ी हौज से नहीं सुधरती,' यह कहावत भी क्षण को चूक जाने वाले के लिए कही गयी है। 'क्षण का चूका सौ बरस जीता है',* इस कहावत के पीछे भी क्षण की महिमा है। एक तरह से देखें तो मनुष्य के हाथ में क्षण की संपदा के अलावा कुछ भी नहीं है। समय तो अनंत है, पर क्षण हमें छूता हुआ निकलता है। गौतम बुद्ध को जब वृद्ध, रोगी और मुरदों का दर्शन होता है तब क्षण समय का अतिक्रमण कर रहा होता है। क्रोंच पक्षी को बेधने के बाद वालिया डाकू को जो क्षण मिला उस क्षण समय का अतिक्रमण करती रामायण का सर्जन होता है। कहने का आशय यह कि जिसे क्षण को सँभालना आ गया वह समय के परे चला गया। यहाँ कोई यह समझ सकता है कि क्षण को सँभालने का मतलब शादी के रिसेप्शन में पहुँच कर अपने नाम का लिफाफा देना है। कोई मर जाये तो अखबार में सादड़ी का समय देख कर वेलासर पहुँच जाना है। बेटी का गौना समयसर कर देना है। एक क्षण की देरी किये बिना मायरा पहुँचा देना है। यह तो व्यवहार की बातें हैं। हम दुनियादारी निभा कर क्षण को सँभालने का आत्मसंतोष कर लेते हैं। यहाँ मुझे नरसिंह महेता का एक जीवन-प्रसंग याद आता है। एक दिन नरसिंह महेता चौरे में बैठे भजन गा रहे थे। आजू-बाजू भक्तमंडली बैठी थी। इसी बीच कुँवरबाई के ससुराल से संदेश आया। संदेश किसी भक्त ने लिया। संदेश में लिखा था कि "आप जल्दी मायरा ले कर आयें। वखतसर नहीं आये तो मेरे प्राण संकट में पड़ जायेंगे।" बेचारा भक्त संदेश पढ़ कर घबरा गया। उस ने हौले से संदेश नरसिंह महेता को थमा दिया। नरसिंह महेता ने संदेश लिया और निमिष मात्र में संदेश के ऊपर लिखा भगवान का नाम बाँच लिया। भगवान का नाम बाँच कर नरसिंह महेता ने तुरंत कहा, "चलो, कुँवरबाई का मायरा भरना है।" चौरे में बैठे बाकी भक्तों को आश्चर्य हुआ। एक भक्त डरते-डरते बोला, "महेताजी, आप पूरा संदेश तो पढ़िये! कुँवरबाई ने मायरे में क्या-क्या मँगवाया है, देख तो लीजिये!" यह सुनकर नरसिंह महेता ने तुरंत कहा, "संदेश में जो बाँचने लायक था मैं ने बाँच लिया। चलो, मायरे में देर हो रही है।" सब भक्त मन ही मन हँसे। पर नरसिंह महेता अदेर मायरा भरने चल पड़े। आप जानते होंगे कि पुराने समय में पत्र में सब से ऊपर 'हरि ॐ', 'हे राम', 'श्रीसवा,' 'कृष्णाय नमः,' ऐसे

भगवान का नाम लिख कर फिर संदेश लिखते थे। सो नरसिंह महेता ने भगवान का नाम ही पढ़ा। आगे क्या लिखा है देखा ही नहीं। भगवान को पहचानने का क्षण नरसिंह महेता नहीं चूके। यहाँ आप ने देखा होगा कि भगवान के नाम के अलावा दुनिया में कुछ भी पढ़ने लायक नहीं है यह बात इस प्रसंग में उभर कर आती है। नरसिंह महेता ने ईश्वर-प्राप्ति का क्षण पहचान लिया। इस से समय कृतार्थ हो गया। समय तो अपनी गति में मग्न है। उसे किसी की राई-रत्ती परवाह नहीं। कवि उमाशंकर जोशी ने क्या खूब कहा है, "समय की छलनी में से हाथी निकल जाते हैं।" आज जो हमें पर्वत दिखता है वही कल राई हो जाता है। जो हाथी दिखता है कल चींटी हो जाता है। समय की बलिहारी है। हमारी औसत आयु साठ साल मानी जाती है। साठ में से चालीस के हो गये तो बाकी बचे बीस। इन बीस बरसों में दस तो नींद में निकल जायेंगे। बाकी के दस बरस पेंशन, बिल, बीमारी जैसे सांसारिक झंझटों में बीत जायेंगे। तो कितने क्षण बाकी रहे? कहने की जरूरत नहीं कि ईश्वर के लिए हम ने एक क्षण भी खाली नहीं रखा। हमारे एक-एक क्षण के कोटर में विजिटिंग कार्ड और टेलीफोन नंबर चींटियों की तरह खदबदा रहे हैं। मजे की बात यह कि मंदिर में भगवान के दर्शन करने या रामकथा में बैठने से उतना समय भगवान का नहीं हो जाता। हम इतने बुद्धिमान हो गये हैं कि दफ्तरी अंदाज में भगवान को भी एपॉइंटमेंट देते हैं और रामकथा में बैठना हो तो पोथी-यजमान बन जाते हैं। वृद्धावस्था आती है और मृत्यु सामने खड़ी होती है तो हाथघड़ी बंद हो जाती है। हमारा समय पूरा हो जाता है। किसी कवि ने क्या खूब कहा है, "घड़ी में जब तक सूइयाँ होती हैं तभी तक वह समय बताती है।

पर घड़ी की दोनों सूइयाँ टूट जायें तो वह क्या बतायेगी?

कदाचित सूइयों वाली घड़ी समय बताती है। यह कहने की जरूरत नहीं कि बंद घड़ी को देख कर लगता है जैसे क्षण के सहारे अनंतता खड़ी है।

छिलके

धान कूटने के मौसम में धान के पीले छिलके गली से उड़ते-उड़ते हमारे गोबर लिपे आंगन में फैल जाते थे। उन्हें देख कर लगता था जैसे किसी ने धूप पर रंदा फेर कर बुरादा बिखेर दिया हो। ओसारे की ओखली में धान कूटते हुए उठते-गिरते मूसल के साथ माँ के कंगन बजते थे। हमारी रिश्तेदार पड़ोसन दूधी बहन बुहारी से छिलकों की ढेरी बनाती थी। धान के छिलके मुझे इतने अच्छे लगते थे कि मैं उन्हें डिब्बे में भर कर रख लेता था। कई बार जेब में भी ठूँस लेता था। धान का छिलका सोने के तुस सरीखा लगता है। खलिहान में उड़ते धान के छिलके सोने के बनते-बिगड़ते बादल जैसे लगते हैं। छिलके से निकला धान का दाना सुवर्ण मंदिर में लेटे देव की तरह लगता है। छिलके धान के हों या गेहूँ के जब खलिहान में उड़ते हैं तो लगता है खेत हलका हो रहा है। खेत विश्राम कर रहा है। छिलके खेत का सुभीता है।

धान का छिलका बहुत पतला होता है। यह कपड़ों में फँस जाये तो लाल चींटी की तरह काटता है। मेरी माँ इन्हें पतली सूई कहती थी। माँ धान कूटने के बाद छड़े हुए चावलों को सूप में भर कर झटकती थी। रहे-सहे छिलकों को फूँक से उड़ा देती थी। इस के बाद चूल्हे पर आँधन रखती थी। चावल डालती थी। आँधन ज्यों-ज्यों खौलता था त्यों-त्यों सौरभ के भमके उठते थे। चावल पक जाने पर माँ बचा हुआ पानी निकाल कर चावल सूँडली में डालती तो उस की सौरभ अगली ड्योढ़ी तक पहुँचती थी। साँझ को ओसारे में पीढ़े लग जाते। थालियाँ रखी जातीं। भात परोसा जाता। सब दाल-भात के सबड़के लेते जाते थे और वाह-वाह करते जाते थे। थाली में परोसे हुए भात में अगर भूल से भी धान का छिलका आ जाता तो सास बहू पर बरस पड़ती थी, "आँखें बंद कर के काम करती हो, छिलका नजर नहीं आता? अपनी कौड़ी जैसी आँखों को चूल्हे में डाल दे... लखनबायरी! राखउडी!" इस वखत धान का छिलका थाली से उड़ कर बहू की आँख में जा गिरता।

मूँगफली के छिलके को हम फोफाँ कहते थे। मूँगफली छीलने का मौसम आता तो हमारा आँगन मूँगफली छीलने की आवाज से गूँज उठता था। मूँगफली का फोफाँ मोटा होता है। इस का फोफाँ दो पोर की अंगुली जैसा लगता है। मूँगफली छीली जा रही होती उन दिनों हम पानी से भरी कूँडी में मूँगफली के फोफाँ की नाव बनाते

और उस में मकोड़ा पकड़ कर बिठा देते थे। फूँक मारते तो फोफाँ तैरने लगता था। पानी पर फोफें तैरते तो लगता जैसे जल के अंगुलियाँ निकल आयी हों। धान के छिलकों से मूँगफली के फोफें अधिक उपयोगी सिद्ध होते थे। कभी उपलों के साथ थेपे जाते तो कभी सीधे ही चूल्हे में डाल दिये जाते थे।

मूँगफली छीलना भी एक कला है। हमारी गली में कुछ अनाड़ी ऐसे मूँगफली छीलते थे कि फोफें के साथ दाना भी कुचल जाता था। कई खाऊधर औरतें मूँगफली छीलते-छीलते दाने चबाती जाती थीं। हमारी गली में अनु नाम की एक छोकरी थी। वह इतने सरस ढंग से मूँगफली छीलती थी कि मैं देखता रह जाता था। वह आँगन के बीचोबीच लहँगा फैला कर बैठती थी। उस के बैठने में एक ठसक थी। हाथों में लय थी और अंगुलियों में छंद। मूँगफली के ढेर से वह मूँगफली उठाती थी और दाँतों से दबा कर 'कड़' से फोफाँ तोड़ डालती थी। उस का फोफाँ सधे तरीके से टूटता था। मूँगफली छीलने के बाद अनु एक मुट्ठी में दाने और दूसरी में फोफें दबा कर मेरे पास आती थी और कहती थी, "तेरी मुट्ठी कौन-सी?" मैं डरते-डरते एक मुट्ठी चुन लेता था। पर मैं जो मुट्ठी चुनता था उस में हमेशा फोफें ही निकलते थे। फोफें देख कर वह रूपा की घंटी की तरह हँस पड़ती थी और चबूतरे से कूद कर भाग जाती थी। कभी-कभी मैं भी वैसे ही अपनी मुट्ठियाँ अनु के आगे करता था, "तेरी मुट्ठी कौन-सी?" वह थोड़ीक देर सोच कर भौंहें नचाती हुई जो मुट्ठी चुनती उस में निश्चित ही दाने होते थे और मेरे हिस्से में फोफें आते थे। मूँगफली और चने के मौसम में मेरा और अनु का यह खेल सतत चलता रहता था। अनु मुझ से दस बरस बड़ी थी। पर हमारी बालटोली में वह खप जाती थी। फुरसत मिलते ही वह छणे खेलने आ जाती थी। कभी-कभी डोरी कूदने भी आ जाती थी। वह 'मोलाकात' के जागरण में घूमर नाचती थी। हम में से किसी छोकरे के घुटने छिल जाते तो वह बिजली की गति से घर में दौड़ी जाती और रुई जला कर घाव पर रख देती थी। अनु हमारी बालटोली की रखवाल थी। एक बार मेरी आँखों में धान का छिलका गिर गया। अनु ने अपनी ओढ़नी के सिरे को बट कर छिलका निकाल दिया।

अनु पतले बाँधे की लंबी छोकरी थी। घूमर नाचते वखत उस का शरीर रबड़ की तरह लचकता था। उस की आँख केरी की फाँक की तरह थी। लहँगा-चोली और ओढ़ना उस पर बहुत फबते थे। उस के बाल घुटनों तक पहुँचते थे। हफ्ते

में किसी दिन सर धो कर और नहा कर वह आँगन में बाल सुखाने आती तो विरंगा आँगन दिप-दिप करने लगता था। अनु की माँ कन्याशाला में शिक्षिका थीं। अनु मुझ से पाँचेक क्लास आगे थी। हम ठेठ स्कूली छोरे उस के पास जोड़-बाकी सीखने जाते थे। बाकी में मुझे हासिल लेना नहीं आता था, पर अनु ने मुझे चुटकियों में हासिल लेना सिखा दिया।

चने के मौसम में अनु का ब्याह होना था। ब्याह तय होते ही अनु बदल गयी। अब उस ने ड्योढ़ी से बाहर निकलना बंद कर दिया। बालटोली के संग खेलना बंद कर दिया। वह सारे-सारे दिन घर से बाहर नहीं आती थी। पहले हमें देख कर वह चुहल-छेड़ करती थी और चाँदी के घुँघरुओं की तरह हँस पड़ती थी। पर अब मात्र मुस्करा कर रह जाती। पहले चने की रितु में मैं चना सेंक रहा होता तो वह हवा के झोंके सरीखी आ धमकती थी। मेरे सामने रेशम की गाँठ जैसी अपनी मुट्ठियाँ कर के कहती, "तेरी मुट्ठी कौन-सी?" मैं झटपट एक मुट्ठी पकड़ लेता था। रीत मुजब उस में से छिलके ही निकलते थे। पर इस मौसम में अनु नहीं दिखी। मैं जहाँ-तहाँ डोलता रहा। गली, घर, आँगन, ड्योढ़ी, चौक, चबूतरा सब मुझे काटने को दौड़ते थे। अनु के लगन की पिछली दुपहरी मुझ से रहा न गया। लट्टू और डोरी लिये मैं अनु के आँगन में गया। आँगन में मंडप लगा था। ओसारा गहनों से रनकती औरतों से भरा था। एक कोने में समवयस्क छोकरियों से घिरी अनु हाथों में मेंहदी लगवा रही थी। ओसारे की भीड़ में अनु ने मुझे दूर से ही देख लिया। पर जाने क्यों उस ने ऐसा दिखाया जैसे उस ने मुझे देखा ही नहीं। मुझे थोड़ीक ठेस लगी। वहाँ मुझे किसी ने गिनती में नहीं लिया। मैं बाहर निकल आया और गली में लट्टू घुमाने लगा। उस घड़ी मैं ने मान लिया कि अनु की मुझ से कुट्टी हो गयी है। मेरे और अनु के बीच कभी कुट्टी नहीं हुई थी। वह जब मुझे ज्यादा चिढ़ाती थी तो मैं दाँतों के पास अँगूठा ला कर कुट्टी कर लेता था। पर उस ने कभी मुझ से कुट्टी नहीं की। उस दुपहरी मैं छत पर गुमशाम बैठा आकाश में लंबे चक्कर लगाती चीलों को देखता रहा।

अनु के लगन का दिन आ पहुँचा। उस दिन पौ फटने से पहले ही अनु की ड्योढ़ी के पास ढमाक-ढमाक ढोल बजने लगे। गली में हौले-हौले चहल-पहल होने लगी। थोड़ीक धूप निकली तो मैं अपने एकढ़ालिए के जर्जर, भव्य झरोखे से अनु के आँगन में देखने लगा। मंडप के कपड़े से अनु का आँगन पूरी तरह ढक गया

था। अतः मैं झरोखे में से कुछ नहीं देख सका। मैं धमाधम सीढ़ियों से उतरा और ओसारे में खंभे के पास बैठ कर चने छीलने लगा। उस वखत ओलती की लंबी छाया दूर तक पसरी हुई थी। पपनस के पेड़ पर थोड़ीक चिड़ियाँ चीं-चीं करती उड़ रही थीं। छज्जे पर कबूतरों के पंख फड़फड़ाने से कुछेक पाँखें ओसारे में झरीं। तभी ड्योढ़ी का अरगल खोल कर अनु अचानक हमारे आँगन में आ खड़ी हुई। अबके वह अकेली नहीं थी। सहेलियों से घिरी हुई पड़ोसियों से अंतिम बार मिलने आयी थी। मैं गुस्से से भरा बैठा था। उसे देखते ही चने का बूटा हाथ में ले कर ऊपर चला गया और कनखियों से नीचे देखने लगा। पर अबके उस ने मेरी उपेक्षा नहीं की। वह सहेलियों को आँगन में छोड़ कर धीमे कदमों से मेरे पास आयी और रेशमी साड़ी की गाँठ सरीखी अपनी मुट्ठियाँ मेरे सामने करते हुए बोली, "तेरी मुट्ठी कौन सी?"

छिलके-सी मेरी पलकें मन भर की हो आयीं। मैं ने महाप्रयत्न से अनु की ओर देखा। उस की आँखें डबडबायी हुई थीं। चने का बूटा एक ओर फेंक कर मैं ने हौलेसीक उस की एक मुट्ठी पकड़ ली। पर इस बार अनु ने मुट्ठी खोली तो मेरे अचरज की सीमा न रही। मुट्ठी में छिलकों की बजाय हरेचम चने थे। अनु फूट-फूट कर रोने लगी। उस की दूसरी मुट्ठी आप ही खुल गयी। उस में से हरेचम चने नीचे गिर पड़े। उस की दोनों मुट्ठियों में से एक में भी छिलके नहीं थे। उस के हाथों पर रची हुई मेंहदी देख कर लगा जैसे धान के पतले-पतले छिलकों को उस ने अपनी हथेलियों पर उकेरवा लिया हो। अनु की विदाई की वेला 'मुट्ठी डाव' के आखिरी खेल में मुझे छिलके नही मिले। पर इस में अनु की बदमाशी थी। यह बदमाशी उस ने मुझे जिताने के लिए की यह मुझे पता था।

चालीस साल से बंद मुट्ठी को आज खोला तो कितने छिलके निकल पड़े! छिलकों के इस खेल में मैं ने यह जाना कि दाना खराब हो जाता है, पर छिलका वैसा ही रहता है। दाना बासी हो सकता है, पर छिलका नहीं। छिलका सूख कर दुहरा हो जाता है फिर भी उस की ताजगी बनी रहती है। तनिक गंभीर और गहरी बात करें तो कह सकते हैं कि दाना छिलके का अहंकार है। दाना डूब जाता है और छिलका तैरता रहता है। पर यह विधान अटल नहीं। कपास का छिलका डूब जाता है और रुई तैरती है। कपास के खेत को देख कर लगता है जैसे सफेद बादलों की फसल झूम रही हो। मैं कपास का डोडा हाथ में ले कर खोलता था तो सफेद बादल निकल

पड़ता था। डोडे का हिटलर जैसा सख्त छिलका सफेद दूध जैसी रुई को जन्म दे कर दरक जाता है। यह देख कर मैं सोचता कि हलकी-फुलकी रुई किस शस्त्र से छिलके की सख्ती को तोड़ती है? बाजरी के सिट्टे से उड़ते पतले-पतले छिलके मच्छर जैसे लगते हैं। मूँग का छिलका सब से निराला होता है। मूँग सूख कर कोडू हो जाता है, पर उस का रंग नहीं बदलता। उस का छिलका हमेशा हराचम रहता है। सिंघाड़े का छिलका हाथ में आ जाये तो लगता है जैसे काले-कलूटे अँधियारे का टुकड़ा हाथ में आ गया हो। शब्दों का मौसम आया है। मैं टोकरी भर कर शब्द छीलने बैठा हूँ। पर दाने छिटक जाते हैं और हाथ में सिर्फ छिलके रह जाते हैं।

शैशव से चित्रित गली

मुंबई में चौमासा लगते ही हमारी अनुकंपा को चुनौती देते दृश्य ठौर-ठौर नजर आते हैं। एक थैली या जेब में समाये जितना घरविद का सामान उठाये सर छुपाने की ठौर ढूँढ़ता कुटुंब। रेलवे प्लेटफॉर्म पर बोरी ओढ़ कर सोये मैले-धैले बच्चे। सर पर प्लास्टिक का आकाश तान कर सिली माचिस से चूल्हा चेताने के लिए खपतीं फुटपाथ की गृहणियाँ। माटुंगा-बाँदरा रेलवे लाइन के समानांतर बसी झोंपड़पट्टी के उड़ते छान-छप्पर। गटर के पानी में नहा कर धूप में शरीर सुखाते बच्चे जिन्होंने कभी तौलिये का परस नहीं जाना। दो ईंटों के चूल्हे में जलते काठ-फूस की आँच पर रखी टीन की मुची तपेली में उबलता चाय का पानी और चाय तैयार होने की बाट जोहता परिवार। फुटपाथ पर झोंपड़ी बना कर रहते परिवार को बरसात के दिनों में थोड़ी-बहुत गरमास अगर कहीं मिलती है तो टीन की तपेली में उबलती चाय से ही।

मुंबई शहर पर जब परनालों पानी बरसता है तो हमारी उष्मा की अंगीठियाँ ठिठुर कर गुड़ी-मुड़ी हो जाती हैं, पर डाल पर गुटर-गूँ करते कबूतर के पेट की उष्मा से खिले वृक्ष को देख कर मन को तसल्ली होती है कि तने की छाल के नीचे सतायी हुई भीगी चींटी सही-सलामत है। नीम के नीचे झरी निंबोली के साथ खेलती गिलहरी को देख कर लगता है जैसे किसी की आँखों की जोत राह भूल गयी हो। केले के पत्तों पर पड़ती पानी की बूँदों की आवाज सुन कर ऐसी भ्रांति होती है जैसे कोई किवाड़ खटखटा रहा हो। हम रेशमी रजाई की गरमास से निकल कर किवाड़ खोलते हैं और बिजली की चमक लपक कर घर में घुस आती है। घरविद का सामान उजाले से नहा जाता है। इस वेला बिजली की चमक में मोती पिरोने की बात मेरे ध्यान में नहीं आती (जो कि आ गयी), पर मोती का ध्यान आता है।

हमारे पास मोती हैं ही कहाँ जो पिरोयें! हम खुद हवा से सूँते धागे में पिरोये हुए हैं। जिंदगी का पेच लड़ाते हुए यह धागा कब कट जायेगा कोई नहीं जानता। ऐसा लिखने से भावुक और भोली ऑडियंस कदाचित खुश हो जाये पर हमें इस से खुशी नहीं होती। हमें खुशी इसलिए नहीं होती कि पकाये हुए शब्द-भंडार की खिचड़ी अब गंधाने लगी है। बाहर मेघ तिरछे हो कर टूट पड़ रहे हैं। बौरायी हुई नदियों के बहाव में हमारा बहुत-कुछ बह जाता है, पर शब्द-भण्डार नहीं बहता। अगर एक बार यह शब्द-भण्डार बह जाये तो हम तिनके की तरह हलके-फूल हो

जायें। घास में नंगे हो कर लोटें, खेतों के दूध को गटागट पी जायें। मैदानों में उगी घास को पशु बन कर चर जायें।

हवा में चील के पंख सरसरा रहे हों। चीं-चीं करती चिड़ियों की चोंच से तुस खेत में उड़ रहे हो। चारों ओर अर्थहीनता की प्रवृत्ति पसरी हुई हो। ऐसी वेला में उड़ती ऊँघ की फड़कती हुई पाँख की रगड़ आँख के लगती है तो स्वप्न अपना अर्थ खो देता है। इसी तरह हमारे नाम का लोहा-लक्कड़ नदी की बाढ़ में बह जाता है। नाम का लोह-लक्कड़ बह जाने के पश्चात जो मैं शेष रहता हूँ उसे अग्नि जला नहीं सकती। पवन सुखा नहीं सकता। गीता के आधार पर ऐसा कहूँ तो कदाच मुरारी बापू की ऑडियंस से मुझे बीस-पच्चीस तालियाँ मिल जायें। पर कुछ नहीं मिलता। क्या कहूँ कुछ सूझायी नहीं पड़ता। उम्र बढ़ने पर आँखों को ही नहीं, फाउंटेन पेन को भी मोतिया हो जाता है भक्ति को भी मोतिया हो जाता है। बुद्धि को भी मोतिया हो जाता है। और पंडिताई को भी मोतिया हो जाता है। मोतिया पकता है तब कुछ नहीं सूझता। पच्चीस बरस पहले मैं शब्दों को देखता था। देख सकता था। पर आज मैं शब्दों को बाँचता हूँ, देखता नहीं। शब्द को देखने और बाँचने में बहुत फर्क है। यह सारा प्रताप पकी उम्र के मोतिया का है। आज हम मनुष्य की यातना और शोषणखोरी के अहवाल, कथाएँ और फीचर मात्र पढ़ते हैं, मानव की यातना को देखते नहीं। उस का अनुभव नहीं करते। क्योंकि हमारी संवेदनाओं का मोतिया पक गया है। (यहाँ मुझे 'संवेदनाओं का मोतिया' नहीं लिखना था। छठी विभक्ति के गोंद में संवेदनाओं की चींटी फँस गयी यह मुझे पता है। पर कुछ और सूझता ही नहीं।) आँखों के हॉस्पिटल में दूध जैसे सफेद बिस्तर पर आँखों के आगे हरा परदा तान कर अधलेटे रोगियों से हम कैसे भिन्न हैं मेरी समझ में नहीं आता।

शैशव के पोतड़ों की तीखी बास से हमारा समय गंधा रहा है। इस बास को गहरी साँस ले कर फेफड़ों में भरना अच्छा लगता है। रुई का फाहा बना कर कान में रखना अच्छा लगता है। गोंडल तहसील की स्कूल में जब 'दो एकम दो, दो दुआ चार' घोखता था उस वखत की बास अब तलक मेरी साँसों में बसी हुई है।

चौमासे के दिन हों। सात दिनों से झड़ी लगी हो। हमारी खाडा-खडिया वाली गली में घुटनों-घुटनों पानी बह रहा हो। और बच्चे ओसारे में बैठे लेसन कर रहे हों। उस वखत हमारे बस्ते में जो बास आती थी वह आज तक मेरे लहू में थोड़ी-बहुत घुली हुई है। मैं बचपन में नहाने में चोर था। आठवें दिन मेरी माँ 'चल, तुझे नहलाऊँ' की ठौर 'चल तेरा मैल उतारूँ' कहती थी। बाथरूम के चूँतरे पर वह पाटला रखती और गरमागरम पानी का डोल भर कर लाती। मैल उतारने के लिए वह साबुन की

बजाय पत्थर का उपयोग करती थी। मैल उतारने के बाद मेरा सर सुखा कर वह जो धूपेल तेल लगाती थी उस की बास आज तक मेरी साँसों में तैर रही है।

आज मेरे घर के बाहर धोधमार बरसात हो रही है। सड़कों पर ट्रैफिक जाम हो गया है। कोई आ-जा नहीं सकता। कहीं चिड़िया भी नजर नहीं आती। फकत समय जीत रहा है। मैं फिर-फिर बारी के पास जाता हूँ। फिर-फिर पलंग पर लेटता हूँ। तकिया कभी इधर रखता हूँ कभी उधर। पुरानी डाक बार-बार पढ़ता हूँ। दाँत कुरेदता हूँ। अखबारों में कॉलमबद्ध यश के पीलेपन को आँखों से पीता हूँ। फिर बारी के पास जा खड़ा होता हूँ। सलाख को पकड़ता हूँ। छींकता हूँ। हवा को देखता हूँ। बिजली के खंभे को देखता हूँ। खंभे पर बैठी चिड़िया को देखता हूँ। चिड़िया पर बैठे आकाश को देखता हूँ। (अब यह नहीं लिखूँगा कि आकाश को देखता हूँ और खुद को खोता हूँ।) फिर वापस पलंग पर लेट जाता हूँ। तकिये को इधर-उधर करता हूँ। दाँत कुरेदता हूँ। टेलीफोन डाइरेक्टरी को सीने से लगा कर चेतना का विस्तार करता हूँ। भगवान को देखता हूँ। भक्तों को देखता हूँ। यों समय की साँप-सीढ़ी पर साँप के मुँह के पास पहुँचती अपनी गोटी को देखता हूँ और उसे नीचे जाते देखता हूँ। उसे वापस ऊपर चढ़ते देखता हूँ। घर के बाहर धोधमार बरसात हो रही है। सड़कों पर ट्रैफिक जाम हो गया है। कोई भी आ-जा नहीं रहा मात्र समय बीत रहा है।

मुझे एहसास होता है कि इन हड्डियों और चमड़ी के ऊपर से कितना समय बह गया है! दो किनारों के बीच भरपूर बहती बारहमासी नदी के प्रवाह से पत्थरों का आकार बदल जाता है। वैसे ही समय की नदी के तल में पड़े हुए हम भी आकार बदलते रहते हैं। समय बड़ी-बड़ी चट्टानों को चिकने कंकरों में बदल देता है और हमें पता ही नहीं चलता।

असाढ़ के लगते ही हमारे आँगन और गली में आने वाले उत्सवों की हलचल शुरू हो जाती थी। एक तरह का मीठा आलस पूरी गली में पसर जाता था। बरसात हो रही होती तब मसालेदार गरम चाय की सुवास से हमारा घर गमकने लगता था। गली का पगला मणिशंकर झब्बा पहन कर फिरता दिखता तो पता लग जाता था कि सावन गाँव के सिवान पर खड़ा है। मोहल्ले में शिवपार्वती (मोलाकात) का व्रत रखने वाली कुँआरी कन्याएँ पांची का खेल खेलने बैठतीं तो वे चिकने कंकरों को नहीं, नदी को उछाल रही होती थीं। उन के हाथों की लचक में, उन के अंगों की मरोड़ में, उन के बैठने में, उन के उठने में, उन के चलने में जो सौंदर्य छलकता था उस की झलक आज तक मेरी आँखों के कोने में सहेज कर रखी हुई है। आज

उन्हीं कुँआरी कन्याओं को स्थूलकाय स्त्री के रूप में सब्जी मार्केट में मोल-भाव करते देखता हूँ तो सोचता हूँ कि चिकने पत्थर चट्टान कैसे बन गये?

दूसरी कक्षा में हमारे साथ बालचंद पोपट नाम का एक छोरा पढ़ता था। वह आये दिन बखेड़ा करता रहता था। वह नीला निकर और भूरा कमीज पहनता था। सारा स्कूल उसे शैतान और बखेड़िये के रूप में जानता था। चलती कक्षा में भी वह कुछ न कुछ करता रहता था। किसी भी पाठ्यपुस्तक या शिक्षक का बालचंद पर कोई असर नहीं होता था। धनेश्वर माट्साब ने एक बार उसे खूब मारा, पर वह मार खाते हुए भी हँसता रहा। स्कूल में इंस्पेक्शन होने वाला होता तो अध्यापकों को इंस्पेक्टरों भी ज्यादा बालचंद का भय लगता था। इंस्पेक्टर सवाल पूछते तो बालचंद बेधड़क कहता, "यह तो माट्साब ने पढ़ाया ही नहीं।" वह कलमें खाता था। इसलिए उस के पास हमेशा कलम का क्राइसिस रहता था। रिसेस में हम सब तो लाइन में चल रहे होते, पर बालचंद लाइन तोड़ कर वह जा वह जा। बालचंद को आज केरोसिन की लाइन में कायदे से खड़े देखता हूँ तो जी करता है फूट-फूट कर रोऊँ और कहूँ, "बालचंद! लाइन तोड़ दे!" किस डाकू ने बिना चेतावनी दिये शैशव का गाँव उजाड़ दिया? आज कोई रूढ़िभंजक लेखक सुवर्णचंद्रक स्वीकार करता है और बालचंद पोपट केरोसिन की लाइन में अनुशासनबद्ध खड़ा रहता है तो दोनों में मुझे कोई तात्विक भेद नहीं दिखता।

मुझे अक्सर लगता है कि सब-कुछ बदल गया, बस मैं ही नहीं बदला। मेरी माँ कभी-कभी कह देती है कि "इतना बड़ा हो गया फिर भी वैसा ही है।" एक बुजर्ग मेरा दूसरे से परिचय कराते हुए कहते हैं, "यह अभी पालने में सो रहा है।" कभी-कभी मेरी पत्नी भी कह देती है, "दो बच्चों के बाप हो गये, अब तो सँभल जाओ।!' एकाध हितेच्छु कवि मित्र भी कहने से नहीं चूकते, "कुछ तो प्रैक्टिकल बनो!" कानों में ऐसे उपदेश पड़ते हैं तो कुछ क्षण के लिए गंभीर होने का ढोंग करता हूँ, पर वे तुरंत इसे ताड़ जाते हैं। मेरे लिए यह सुखद स्थिति है। सर पर सफेदी आ गयी फिर भी मुझे कोई बालिग मानने को तैयार नहीं। पर इस का मुझे रत्ती भर अफसोस नहीं। डिब्बी में तितली की तरह रखा शैशव इतना मजेदार है कि वह डिब्बी समेत उड़ता है। इस बात पर अगर किसी को चाहिए तो मैं अपना बालिग मताधिकार मुफ्त में देने को तैयार हूँ।

अँधेरा

उजाले की बनिस्पत अँधेरा मुझे ज्यादा आकर्षित करता है। मैं छुटपन में अँधेरे से बहुत डरता था। हवा के झपाटे से लालटेन बुझ जाती और अँधेरे की काली बिल्लियाँ घुस आतीं तो डर के मारे मैं रोने लगता था। रो-रो कर आसमान सर पर उठा लेता था। आँखों के आगे अँधेरा छा जाये तो 'लालटेन बुझ गयी' की बजाय 'हम खो गये' कहना मुझे अधिक उचित लगता है। हम जितना प्रकाश का बखान करते हैं उतना अँधेरे का नहीं। अँधेरे को मैं ने विविधरूप में देखा और भोगा है। गाँव के पादर में जब तालाब सूख जाता और घर के नल में पानी की एक बूँद भी नहीं आती उस वखत उस पतले पाइप में सोये अँधेरे को मैं ने देखा है। माचिस की तिली के सिरे पर उजाले का भेष धर कर बैठे अँधेरे को मैं ने देखा है। घर में ट्यूबलाइटें जगमगा रही हों तो इलेक्ट्रिकल वायर की थोथ में सोये अँधरे को मैं ने देखा है। आकाश में नक्षत्र देखने के साथ-साथ दो तारों के बीच झिलमिलाता अँधेरा मैं ने देखा है। और अभी-अभी जनमे बच्चे की पलकों में सोये नवजात अँधेरे को भी मैं ने देखा है। अँधेरे की बात करना उजाले का अनादर करना नहीं है। उजाले को धारण करने की जितनी शक्ति अँधेरे में है उतनी हमारी काच की आँख में नहीं। और अँधेरा नहीं होता तो आले में रखे दीये का कोई मूल्य नहीं होता। अगर अँधेरा नहीं होता तो बचपन में आँधलपाडा खेलने का सारा मजा किरकिरा हो जाता।

हमारी गली में आँधलपाडा खूब खेला जाता था। इस का मजा यह है कि इस में आप को अँधेरे में टटोलना होता है। इस में बिना दूसरे की मदद के किसी को पकड़ना होता है। दीवाली के वेकेशन में गली खाली होते ही आँधलपाडा शुरू हो जाता था। जिस का डाव आता था उस की आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती और बाकी सब इधर-उधर हो जाते। जैसे अंधा टोहता हुआ चलता है वैसे ही डाव देने वाला टोहता हुआ चलता है। मुझे अक्सर ऐसा लगता है कि हम ईश्वर के साथ आँधलपाडा खेल रहे हैं। हमारी काच की आँखें जो-जो देखती हैं उन में ईश्वर नहीं होता, सिर्फ़ वस्तुएँ होती हैं। पदार्थ होता है। जो आँख ईश्वर को नहीं देख सकती उसे सूझती आँख कैसे कह सकते हैं! हम आँख से जो देखते हैं उस के आधार पर सत्य की खोज का ढोंग करते हैं। सत्य का सतांश भी हाथ लगा नहीं कि हम 'सत्य का प्रकाश छा गया' जैसे रोमांटिक वाक्य गढ़ने लगते हैं। यहाँ मुझे यह कहना है कि सत्य का उजाला नहीं होता। सत्य तो अँधेरे की संतान हैं। घनघोर अँधेरे में

उड़ते जुगनू को देख कर उसे सत्य कहने का साहस ज्ञानी पुरुष नहीं करते। घटाटोप रात में बिजली की चमक सत्य नहीं है। बिजली का यह प्रकाश तो अँधेरी रात का चौकीदार है। हम जीवन से निराश हो जायें तो हमारे सामने ऐसे आश्वासन-वाक्य परोसे जाते हैं—काले बादल के सुनहरी किनारी होती है। यहाँ आप ने देखा होगा कि इस में काले बादल के सत्य को नकार कर सुनहरी किनारी का बखान किया गया है। दरअसल अँधेरा जितना सत्य के नजीक है उतना उजाला नहीं। लालटेन का जलना नहीं, लालटेन का बुझना घटना है। दीया करना जितना सरल है अँधेरा करना उतना ही मुश्किल है। भाषा की बात करें तो कोई शब्दों के दीये जलाता है और कोई शब्दों को दीये मान कर उन्हें दंडवत करता है।। मुझे लगता है शब्द दीया नहीं, आला है। शब्द के आले को ध्यान से देखेंगे तो वहाँ आप को अँधेरा नजर आयेगा। हम जो बोलते हैं उस बोली, भाषा के पीछे भी लोकजीवन का अँधेरा है। हमारी जीभ पर भाषा की बारहखड़ी उकडू बैठी हुई है। हमारे होंठ प, फ, ब, भ, म के अलावा कुछ नहीं बोल सकते। हमारे दाँत त, थ, द, ध, न, के सिवाय गूँगे हैं। होंठों के पास त, थ, द, ध, न का अँधेरा है और दाँतों के पास प, फ, ब, भ, म का अँधेरा है। कहने का तात्पर्य यह कि मानुस के पास कोई न कोई अँधेरा कोना हमेशा होता है। इस शाश्वत अँधेरे कोने की कविता करनी हो तो की जा सकती है।

ईश्वर की प्रार्थना करते वखत हम गंभीर चेहरा बना कर और हाथ जोड़ कर ऊँचे स्वर में गाते हैं—तमसो मा ज्योतिर्गमय! हे प्रभु! तू मुझे अँधेरे से प्रकाश की ओर ले चल! इस प्रार्थना में अँधेरे से प्रकाश की ओर ले चलने की माँग है। मजे की बात यह है कि यहाँ अँधेरा केवल अँधेरा नहीं है। अँधेरा अज्ञान का प्रतीक है ऐसा अर्थ निकाल कर अज्ञान से ज्ञान की ओर ले चलने की माँग तारसप्तक में की गयी है। जैसा कि मैं ने पहले कहा, हम अगर शब्द को दीया मानते हैं तो तमस और अँधेरा इन दो शब्दों को क्या कहेंगे? आप ने देखा होगा कि तमस से ज्योति के प्रदेश में जाने की बात को सही ठहराने के लिए हम तमस अथवा अँधेरे पर अज्ञान जैसे गढ़े हुए अर्थ का मेकअप करते हैं। खाना बनाने के अँधेरे पतीले को हम ने अज्ञान का ढोल बना दिया है। हम सब अर्थाने के जंगल में भटके हुए पामर प्राणी हैं। अँधेरे को अँधेरे की तरह देखने की हमारी दृष्टि नहीं रही। चौमासे में रात को बत्ती करते हैं तो कोने-काँचरे में दुबके कीट-पंतगे बल्ब के इर्द-गिर्द मँडराने लगते हैं। बत्ती के आस-पास मँडराते जीवों को देख कर हम यह नहीं कह सकते कि यह उजाले का रास है बत्ती के उजाले से अंधेरा डिस्टर्ब हो गया। हर जलता

हुआ दीया अथवा जगमगाता बल्ब अँधेरे का डिस्टर्बेंस है। उजाले के डिस्टर्बेंस से ईश्वर इतना परेशान हुआ कि हम से कोसों दूर वह किसी अँधेरे कोने में जा बैठा। आरती के घंटे-घड़ियाल और झालर की आवाज से हम ऐसे बहरे हो गये हैं कि हम कान की थोथ में भी अँधेरा पाल रहे हैं। साँस ले-ले कर हमारा नाक ऐसा व्यापारी हो गया है कि साँस की लेन-देन में वह अंधा हो गया है।

अँधेरे का गाढ़ा घोल हमारी नसों में बह रहा हो तो उजाले में फाँफें मारने की हमारी उछलकूद हास्यास्पद लगती है। दीवाली के दिन हजारों दीये जला कर हम अँधेरे को देशनिकाला नहीं दे सकते। दीवाली प्रकाश का नहीं, अँधेरे का पर्व है। यह बात दीवाली हम से बेहतर जानती है। समय के विशाल फलक में से दीवाली ने अपने आने के लिए पूनम की बजाय अमावस को चुना। यह कालीभँवर अमावस हमारे सर पर खड़ी है। अँधेरे का गोवर्धन दीये की चिटुली अंगुली से उठ सकता है, पर गोवर्धन को नकारा नहीं जा सकता। काली चौहदस को हम अपनी आँखों में काजल नहीं, अँधेरा आँजते हैं जो आँख अँधेरा आँज कर बैठी है उस के लिए क्या उजाला और क्या अँधेरा। अँधेरा अशुभ है और उजाला शुभ ऐसा भेद मनुष्यबुद्धि को शोभा नहीं देता। सत-असत, अँधेरा-उजाला, भला-बुरा और पवित्र-अपवित्र जैसा भेद कर के बुद्धि ने बहुत अपयश कमाया है। मुझे उजाले में अँधेरे की गंध आती है। अँधेरे में अँधेरा नजर आता है। दीवाली के अँधियारे दिन मेरी अँधियारी माँ टहलने निकलती है तो आकाश में नक्षत्रों के दीये प्रकट होते हैं। आकाश में सप्तर्षि और आकाशगंगा के बावजूद मेरी अँधियारी माँ का अँधेरा खत्म नहीं होता। दीवाली की मंगल वेला मैं अंजुलि भर अँधेरा लाया हूँ। यह अँधेरा फांडटेन पेन की थोथ से काली स्याही के रूप में गिरता है। उजाले का कोरा कागज श्याम हो जाता है। अक्षर और पत्र भी श्याम हो जाते हैं। अक्षर लिपिबद्ध होते हैं तो अँधेरा बोलने लगता है। कागज पर लिखावट अँधेरे की पगडंडियों जैसी लगती है। अँधेरा कंपोज हो कर आता है तो सुबह होती है। और सुबह दुपहरी की आग में जल कर साँझ को घर पहुँचती है तो अँधेरा उस की राह देख रहा होता है। पूर्व में उगता सूर्य भी अँधेरे की मर्यादा रखने के लिए पश्चिम में निस्तेज हो कर डूब जाता है। सूरज जैसा समय का पहरेदार भी करोड़ों वर्षों से अँधेरे को बुहार रहा है, पर अँधेरा जस का तस है। अँधेरा कायम है। अँधेरा शाश्वत है। दीवाली की रात दीया जला कर हम उजाला नहीं करते, बल्कि अँधेरे को कंफर्म करते हैं।

आँसुओं का वरदान लाती पारदर्शकता

श्रीकृष्ण की बाललीला के अनेक प्रसंग हैं। एक बार कृष्ण माटी खा रहे थे। उसी वखत यशोदा आ गयीं और कृष्ण का मुँह खोला। तब उन्होंने यशोदा को मुँह में पूरा ब्रह्मांड दिखा दिया। इस प्रसंग पर विचार करता हूँ तो लगता है कृष्ण सरीखी पारदर्शकता किसी में नहीं। कृष्ण मुझे हमेशा काच जैसे पारदर्शक लगे हैं। वह हमारे बीच रह कर हमें सब-कुछ दिखलाते हैं। वह हमारे आड़े नहीं आते। वह प्रेम के पास पतले पानी की तरह पारदर्शक हो जाते हैं। हम ने कृष्ण के मुँह में कभी ब्रह्मांड नहीं देखा, क्योंकि हम दुष्यंतपुत्र भरत की अदा से कृष्ण के पास जाते हैं और कहते हैं, "मुँह खोल! मुझे तेरे दाँत गिनने है।" यशोदा के मन में ऐसी गिनती नहीं है। इस लिए कृष्ण यशोदा के पास काच की तरह पारदर्शक हो जाते हैं।

कई बार मैं बारी के काच से बादाम के वृक्ष को देखता हूँ तो उस में इतना खो जाता हूँ कि स्वयं बादाम हो जाता हूँ और डाली से झूलने लगता हूँ। उस वखत मैं बारी के काच को भूल जाता हूँ। मुझे काच के आर-पार बादाम का वृक्ष दिखता है, काच नहीं। मेरे और बादाम के वृक्ष के बीच काच का पारदर्शक परदा टँगा होता है। यह परदा बाहर का दृश्य देखने में कतई आड़े नहीं आता। हम दृश्यनिष्ठ जीव हैं। यानी जिस में से दृश्य दिखता है उस काच के अस्तित्व को भूल जाते हैं। कोई मानुस चश्मे के काच को देखने के लिए चश्मा नहीं पहनता। वह बाह्यजगत को देखने के लिए चश्मा पहनता है। अखबार पढ़ने के लिए चश्मा पहनता है। कहने का मतलब यह कि कृष्ण की पारदर्शकता हमारे बीच में ही है। पर हमारी आँखें दृश्यलीन हैं। अक्षरलीन हैं। इसलिए यह पारदर्शकता हमारी दृष्टि में नहीं आती। सीधी-सादी भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि—कोई नास्तिक तुम्हारे पास आ कर जिद करे कि "मुझे अभी का अभी कृष्ण दिखाओ!" तो आप उसे काच की बारी के पास ले जायें और पूछें, "तुम्हें क्या दिखता है?"वह काच की बारी में से दिखती सारी वस्तुओं के नाम गिनायेगा, वर्णन करेगा, पर "मुझे काच दिखता है" यह नहीं कहेगा। इस वखत आप बारी के काच पर अंगुली रख कर कहें कि "यह है कृष्ण!"

बारी के काच की बात करते हुए हम अपनी आँख के काच को ध्यान में रखें। मनुष्य की आँख मुझे अक्सर काच की बारी की तरह लगती है। आँख में कृष्ण की पारदर्शकता काजल के रूप में रहती है। सूरदास ने बाहरी दृश्यों को नकार कर आँख के काच को ही देखा। यानी वह कृष्ण के ज्यादा नजदीक गये। कबीर साहब

ने 'आँखों की देखी' में पारदर्शक काच को भी देखा। फिर 'कागज की लेखी' देखने की जरूरत ही नहीं रह जाती। मुझे अचरज होता है कि हमारी आँखों में दृश्य बस गये हैं। इन दृश्यों में हम कृष्ण को ढूँढ़ेंगे तो हमारे हाथ कुछ नहीं आयेगा। कृष्ण यों हाथ आने वाले नहीं है। कृष्ण आँख में आँसुओं का वरदान ले कर आने वाली पारदर्शकता है। हम अपनी आँखों पर आँसुओं का काच चढ़ाते हैं तो आँसू की बूँदों की पारदर्शकता में कृष्ण छुपे होते हैं। बालमुकुंद पीपल के पत्ते पर सो सकते हैं तो काच की पारदर्शकता में अदृश्य भी रह सकते हैं। बारी का काच और चश्मे का काच होते हुए भी अदृश्य है। इसी तरह कृष्ण भी अदृश्य हैं। आप उन्हें देख तो नहीं सकते, पर अनुभव कर सकते हैं। यशोदा को कृष्ण के मुँह में ब्रह्मांड दिखता है इस घटना में कितने रहस्य छुपे हुए हैं! यशोदा ने कृष्ण के मुँह के निमित्त ब्रह्मांड नहीं देखा, बल्कि ब्रह्मांड के निमित्त कृष्ण का मुँह देखा। हम बारी के काच के कारण दृश्य देखते हैं, परंतु दृश्य के कारण बारी के काच को नहीं देख पाते।

कृष्ण के मोरपंख में द्रौपदी की आँख

महाभारत में एक द्रौपदी ही है जो कृष्ण को पजेश नहीं करती। वह कृष्णभक्ति का कभी दिखावा नहीं करती। ईख छीलते हुए कृष्ण की अंगुली से लहू की धारा फूटती है तो कृष्ण की पटरानी पाटा बाँधने के लिए कपड़े का टुकड़ा ढूँढ़ने जाती है, पर द्रौपदी तत्क्षण अपनी साड़ी का सिरा फाड़ कर कृष्ण की अंगुली पर बाँध देती है। इस छोटे-से प्रसंग में मुझे कृष्ण की रक्तसनी अंगुली द्रौपदी के प्रेम का गोवर्धन उठाये दिखती है। साथ ही महल की पटरानी से पजेश हुए लाचार कृष्ण भी दिखते हैं।

यहाँ कोई व्यापारी मानुस यह अर्थ लगा सकता है कि कृष्ण की अंगुली पर द्रौपदी ने पाटा बाँधा था इसी लिए वस्त्रहरण के वखत कृष्ण ने द्रौपदी को वस्त्र पूरा। परंतु यह लेन-देन का प्रश्न नहीं है। कृष्ण ने वस्त्रहरण के वखत द्रौपदी के पाटे का बिल नहीं चुकाया था, बल्कि नारी-गौरव की रक्षा की थी। और मजे की बात यह कि वस्त्रहरण के वखत द्रौपदी मदद के लिए कृष्ण को नहीं पुकारती, पर अपनी लाज बचाने के लिए अपने भरतारों से गुहार करती है। यहाँ आप ने देखा होगा कि द्रौपदी इतनी विषम स्थिति में भी कृष्ण को पुकार कर पजेश नहीं करती। वह जिन्हें पजेश करती है उन पांडवपुत्रों से लाज बचाने की विनती करती है। द्रौपदी के अंतस में कृष्ण संकट समय की शृंखला नहीं, अपेक्षारहित प्रेम की शृंखला हैं।

द्रौपदी पांडवपुत्रों की घररखु गृहणी नहीं है। वह प्रेमरखु स्त्री है। वह विश्व की पहली मुक्त महिला है। दुनिया की नजर में वह पाँच पुरुषों की पत्नी है। पर पांडव तो उस की पाँच इंद्रियाँ हैं। और इन इंद्रियों से वह इंद्रियजित कृष्ण को पाती है। कृष्ण का मोरपंख रोमांटिज्म का प्रतीक है। मुझे इस मोरपंख में द्रौपदी की आँख दिखती है। महाभारत में आप ने देखा होगा कि कृष्ण पर द्रौपदी का कोई पजेशन नहीं है। न ही द्रौपदी पर कृष्ण का पजेशन है।

पर हम तो तैयार कब्जे और रेडी पजेशन के लोग हैं। कृष्ण और द्रौपदी के इंद्रियातीत संबंध को समझने लायक हमारी पहुँच कहाँ! किसी चीज पर आधिपत्य जमाना मनुष्य का स्वभाव है। कुटुंब, घर या जमीन-जायदाद पर कोई पजेशन रखता है तो समझ में आता है। पर कृष्ण को पजेश करेंगे तो संप्रदाय खड़ा होगा। हमारा समाज असंख्य संप्रदायों से खदबदा रहा है। सड़ रहा है। गंधा रहा है।

आप कृष्ण के जीवन पर दृष्टि डालेंगे तो देखेंगे कि कृष्ण ने जनमते ही देवकी और वासुदेव का पजेशन तज दिया। और गोकुल में भी नंद-यशोदा का आजीवन पजेशन कबूल नहीं किया। यशोदा कृष्ण को बाँधने जाती है तो डोरी छोटी पड़ जाती है। कहने का मतलब यह कि कृष्ण कभी पजेश नहीं होते। राम के जीवन में इस का बिलकुल उलटा है। राम दशरथ की आज्ञा की डोर से तुरंत बँध जाते हैं। दशरथ राम को पजेश करते हैं। और पजेश हुए राम चौदह वर्ष का वनवास भोगते हैं। राम का व्यक्तित्व ही ऐसा है कि आप उन का तैयार पजेशन ले सकते हैं। अयोध्या का मामूली धोबी भी राम को पजेश कर सकता है। मजे की बात यह है कि राम सीता को पजेश करने गये और सीता का विरह उपस्थित हो गया। मुद्दे की बात यह है कि पजेशन एक मर्यादा है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाते हैं। उन के पीछे पजेशन की डोरी रहती है ऐसा मुझे लगता है।

मुझे अक्सर ऐसा लगता है कि भक्ति पजेशन का अध्यात्मिक नाम है। राम की भक्ति हो सकती है, पर कृष्ण से तो प्रेम ही किया जा सकता है। कृष्ण को प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए। द्रौपदी और कृष्ण के बीच जो कम्युनिकेशन है उसे देख कर यह कहने को जी चाहता है कि द्रौपदी कृष्ण की प्रेमगीता है। कृष्ण की इस प्रेमगीता में शब्द नहीं हैं। इस लिए इस प्रेमगीता पर पुस्तक का पजेशन नहीं है। फिर एक बार मेरी आँखों के आगे पारदर्शक काच आ जाता है। काच की पारदर्शकता किसी को पजेश नहीं करती। पर आईना हमारा पजेशन तुरंत ले लेता है। कृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारिका पर भी पजेशन नहीं रखा। आप राम की अयोध्या देखेंगे, पर कृष्ण की असली द्वारिका कहीं देखने को नहीं मिलेगी। कृष्ण ने अपनी मूल द्वारिका को समुद्र में डुबा दिया। कृष्ण यह अच्छी तरह जानते थे कि यदि द्वारिका को नामशेष नहीं किया तो राम जन्मभूमि को पजेश करने जैसा विवाद द्वारिका के लिए भी होगा।

बारी को परदे का कफन

ट्रेन या बस में यात्री को बारी से विशेष लगाव होता है। बारी के पास कोई जगह मिल गयी तो समझो बैकुंठ मिल गया। चर्चगेट या वी.टी. पर ट्रेन के रुकते ही ब्रीफकेस के साथ धड़ाधड़ चढ़त सवारियों को बारी के पास सीट पाने के लिए अधीर होते देखता हूँ तो लगता है लंचबॉक्स के बिना चलेगा, पर बिना बारी के वह अनाथ बच्चे सरीखा लगता है। बारी मुसाफिर की माँ है। जिन के नसीब में बारी नहीं आती वे मुँह लटकाये सिकुड़े-सिमटे खड़े रहते हैं और ज्यों ही बारी की सीट खाली होती है बिजली की गति से लपकते हैं। बारी का आकर्षण नैसर्गिक है इस पर विचार करें तो कह सकते हैं कि मानुस की बारी की सनक के मूल में भीतर की बंद बारियाँ हैं। हमारे अंतरमन की बारियों पर जड़ मान्यताओं का इतना जंग लग गया है कि ताजिंदगी माथा पटकते रहें तब भी वे खुलेंगी नहीं।

जूने मकानों को देखते हैं तो आँखें अनायास बारी की ओर उठ जाती हैं। कहीं पूर्वमुखी बारियां दिखती हैं तो कहीं नक्काशीदार पश्चिममुखी बारियाँ। कहीं बारणे तो कहीं झरोखे। मुंबई जैसे शहर में झरोखों को देशनिकाला मिल गया है। यहाँ झरोखों का स्थान बॉलकनी ने ले लिया है। आलीशान फ्लेटों में बारियों का कद बढ़ा है। विंडोग्लास का चलन भी बढ़ा है। बड़े विंडोग्लास से बाहर का दृश्य तो दिखता है, पर ये दृश्य मुझे छूते नहीं। चिड़ियों की चीं-चीं सुनायी नहीं देती। कव्वे को बैठा हुआ देखता हूँ, पर उस की काँव-काँव से वंचित रह जाता हूँ। बारी से झमाझम बरसात होते देखता हूँ, पर घर में बौछार नहीं आती। मेरे और प्रकृति के बीच काच की दीवार खड़ी कर दी गयी है ऐसा मुझे लगता है। विंडोग्लास आप को आँख की समृद्धि देता है, पर कान और परस की समृद्धि छीन लेता है।

बारी का संबंध आकाश से है। बारी घर को आकाश से जोड़ती है। दीवाली पर बारियों के लिए परदा खरीदने जाते हैं तो यह कहने को मन होता है कि आकाश जैसा अनमोल परदा आप को कहाँ मिलेगा! पर मानुस अपनी प्राइवेसी के लिए बारी को परदे का कफन पहना देता है। बारी की अपेक्षा परदे का महत्त्व बढ़ा है। खुली बारी में जीवन का जो आनंद है वह परदानशीन बारी में कहाँ! पहले गली में कोई वरघोड़ा निकलता था या कोई लड़ाई-टंटा होता था तो तुरंत बारियों से कई चेहरे झाँकने लगते थे। घरविद के काम-काज से फारिग होकर नेम वाली बहू-बुआरियाँ बारी के पास थोड़ीक खड़ी रह कर ताजादम हो जाती थीं। खुली बारी हमारी चेतना

की बंद बारियों को खोलती है।

मैंने कई लंबी यात्राएँ की हैं। इन यात्राओं में पहाड़ों और घाटियों को लाँघती ट्रेन की बारी से मैं ने कुदरत का अपार सौंदर्य देखा है। झरनों की उछलकूद देखी है। छतनार वृक्षों को आँखों में भरा है। नदियों को आँखों से पीया है। चारे के ढेर देखे हैं। बारी नहीं होती तो मानुस कितने-कितने सुखों से वंचित रह जाता! बारी आकाश की फोटोफ्रेम है और विंडोग्लास स्पर्श की कब्र है।

कागज की नाव के लिए पानी खरीदना होगा

दीवाली का तहेवार सिवान पर खड़ा है। कच्छ और गुजरात में सूखे के बहुत बुरे दिन शुरू हो गये हैं। जलाशयों में धूल उड़ रही है। कुएँ सूख गये हैं। अब कोई पनिहारी सर पर घड़ा और बगल में गागर ले कर कुएँ पर नहीं जाती। सरकारी टैंकर की राह जोहती वह गली में खड़ी रहती है। अकाल पड़ता है तो पनिहारी शब्द शब्दकोश में ही शेष रह जाता है। बच्चे भी बरसात के पानी में छबछबिया नहीं करते। अतः छबछबिया शब्द अब कविताओं में ही जीवित है। बच्चे कागज की नाव बनाना भूल गये हैं। पहले गली में घुटनों-घुटनों पानी बहता था। पानी में तैरती कागज की नाव का आनंद बच्चों से छिन गया है। अब बच्चे पानी में तैराने के लिए कागज की नाव नहीं बनाते, पाठशाला में कला-शिक्षक कागज की नाव बनाने को कहते हैं इसलिए बनाते हैं। बच्चे को कागज की नाव तैराने के लिए पानी खरीदना पड़ता है ऐसा बखत आ गया है।

गाँव के कुओं पर कव्वे उड़ रहे हैं। गुजराती नारी के जीवन में कुआँ अफरा झाड़ने की ठौर मानी जाती है। सारे-सारे दिन घरविद के कामों की चक्की में पिसती गुजराती नारी कुएँ पर पानी भरने जाती है तो सहेलियों के संग कुछ ताजादम हो जाती है। सुख-दुख की दो बातें कर लेती है। तनिक एकांत पाती है। इस अकाल ने गुजराती नारी से यह एकांत छीन लिया है। बागड की झगड़ालू सास से पीड़ित गुजराती कुटुंब की बहू रूपकुँवर की तरह सती तो नहीं होती, पर कुएँ में कूद जाती है। गुजरात के किसी भी गाँव में जा कर कुएँ से कान लगाओ तो असंख्य रूपकुँवरों का चीत्कार सुनायी देगा। गुजरात की बहू-बुआरी के लिए कुआँ एक आश्वासन था, पर गुजराती समाज के लिए कुआँ एक शर्म है। अकाल के बुरे दिनों का आश्वासन मात्र यह है कि अब कोई बहू-बुआरी कुएँ में कूद कर सती नहीं होती।

पहले वृद्धों का उपेक्षित जीवन अपनी संतानों के दीवाली पर घर आने की बाट जोहता हुआ देहरी घिसता था। काकदृष्टि से डाकिये की राह देखता था। पर अब कोई संतान दीवाली मनाने के लिए गाँव नहीं जाती, अपने कुटुंब-कबीले के संग माथेरान की सैरगाह की ओर जाती है और घुड़सवारी का आनंद लेती है। पहले मन से या बेमन से वृद्ध माँ-बाप का मन रखने के लिए संतान लोगों को दीवाली पर गाँव जाना पड़ता था। पर अब उन्हें अकाल का बहाना मिल गया है। "गाँव में पीने के पानी की मारामारी है। इसलिए दीवाली पर हम नहीं आयेंगे।" वतन

में वृद्ध माँ-बाप के नसीब में आले का अँधेरा ही रह जाता है। 'होमलाइट' माचिस से दीया जल सकता है। चूल्हा जल सकता है। बहू जल कर मर सकती है। सिगरेट सुलग सकती है। चिता सुलग सकती है। पर घर में उजाला नहीं हो सकता। वृद्ध माँ-बाप के लिए संतान ही होमलाइट है। इस दीवाली पर कोई संतान गाँव नहीं जायेगी। वृद्ध माँ-बाप दीवाली मनाने मुंबई आयेंगे। उलटी गंगा बहेगी। अकाल ने हमारे संवेदनातंत्र को किस कदर कुंद कर दिया है! भारत के नक्शे में मेरा गाँव चींटी के पैर की तरह नजर नहीं आता। आँखें फाड़-फाड़ कर देखने पर भी मेरे गाँव का नाम नक्शे में दिखलायी नहीं पड़ता। मेरी गली, मेरी ड्योढ़ी, मेरा सिवान, मेरे बालसखा और मेरा शैशव मरीचिका की तरह तैरते रहते हैं। मैं इन के पीछे बहुत भटका हूँ। फिर भी मेरा कंठ प्यासा है। अकाल पानी का ही नहीं, संवेदनाओं का भी पड़ा है।

कव्वा उजले दिन का अँधेरा है

भादों की धूप चुभने लगी है। हमारे पूर्वज कव्वों का रूप धर कर घरों की छतों को गुँजाने लगे हैं। दिवंगत स्वजन का श्राद्ध दिवस आता है तो हमारी आँख कव्वा बन कर अतीत के घोंसले पर थिर हो जाती है। बचपन में मैं दादाजी को निसैनी चढ़ कर छत पर कव्वों को कागवास डालते देखता था। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं ताँबे का कलश पकड़े खड़ा रहता था और दादाजी काँसे की थाली लिये 'काग ... काग ... काग ..., चिल्लाते थे। यह कव्वों को खीर-पुरी जीमने का खुला न्यौता होता था। देखते-देखते छत कव्वों से खचाखच भर जाती थी। मैं मूढ़ सरीखा कव्वों को दावत उड़ाते देखता रहता था। कभी-कभी मैं विस्मय के मारे दादाजी से पूछ बैठता—

"दादाजी! पूर्वज कव्वे बन कर ही क्यों आते हैं? वे मोर, तोता या मैना के रूप में क्यों नहीं आते?"

दादाजी तनिक हँसते और कहते, "कव्वे उजले दिन का अँधेरा है।"

तब दादाजी की बात मेरी समझ में नहीं आती थी। पर यह बात मेरी स्मृति में ऐसे जड़ गयी कि आज भी याद है। शैशव में इस कथन का अर्थ मेरे पल्ले नहीं पड़ा था। पर आज मैं समझ सकता हूँ कि कव्वा उजले दिन का अँधेरा क्योंकर है। अब कव्वों को देखने की मेरी दृष्टि बदल गयी है। पहले मैं आकाश में दो पंखों से उड़ते और काँव-काँव करते भौंडे कव्वों को देखता था। अब मुझे कव्वों के रूप में अँधेरा उड़ता दिखता है। कपास के खेत के ऊपर जैसे रुई के पोल उड़ते हैं वैसे ही अँधेरे के खेत के ऊपर पोल सरीखे काले कव्वे उड़ते हैं।

यहाँ जानने की बात यह है कि एक दिन हमारे पूर्वज जगमगाते उजाले थे। पर आज वे अँधेरा बन गये हैं। भादों में हम अपने घर की छत पर अँधेरे को बुलाते हैं। किसी सुबह देहरी पर कव्वा बोले तो समझ लेना वह यह संदेश लाया है कि एक दिन अँधेरा अतिथि बन कर तुम्हारे आँगन में अवश्य आयेगा। जब हम निसैनी रख कर छत पर वास डालते हैं तो हम कृतज्ञता की स्मृतियों का उत्सव मनाते हैं। हम अपनी आँखों में स्मृतियों का चुटकी भर उजाला संजोये रहते हैं। इसीलिए हम छत पर अँधेरे को न्यौता देते हैं।

हमारी आँखों के आगे सतत अँधेरा हो तब भी आँखों में उजाला होता है और उजाले के सामने यानी सूरज के सामने हम आँखें खोल कर खड़े रहें तो आँखें

चुँधिया जायेंगी, अंधी हो जायेंगी। बारी से कव्वों को उड़ते देखता हूँ तो लगता है कव्वा अँधेरे का संदेशवाहक है। भादों में कव्वा यह संदेश लाता है कि हमारे पूर्वज अँधेरे की चादर ओढ़ कर आयेंगे और कहेंगे, "अँधेरे को उजाले की फ्रेम में मंढ़वा लो!" घर में तस्वीर बन कर भींत पर लटकते पूर्वजों के चेहरे देख कर क्षण भर के लिए ऐसा लगता है जैसे एक बीता हुआ जीवन थिर हो गया हो। भादों में हम पितृतर्पण करते हैं तो एक दिन के लिए ये तस्वीरें जीवित हो उठती हैं, स्पंदित हो उठती हैं और फिर स्मृतियों के अँधेरे में खो जाती हैं।

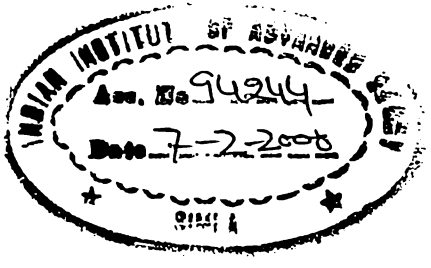

श्री अनिल रामनाथ जोशी का जन्म गुजरात के मॉडल नामक स्थान में 1939 में हुआ। वहीं से आपने स्नातक ऑनर्स की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति आप बम्बई में भाषा प्रशिक्षण अधिकारी हैं। आपने रवीन्द्रनाथ ठाकुर और टी.एस. एलियट की रचनाओं से प्रभावित होकर 1960 में लिखना शुरू किया। आपका पहला कविता-संकलन, दो निबन्ध-संग्रह और बाल कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। पवन नी व्यासपीठ के लिए आप जयन्त पाठक पुरस्कार (1983) और गुजरात साहित्य अकादेमी पुरस्कार (1989) से सम्मानित हैं।

प्रस्तुत कृति **स्टेच्यू** बीस वैयक्तिक निबन्धों का संग्रह है, जो गुजरात के ग्रामीण जीवन का जीता-जागता चित्र सामने खड़ा कर देता है। निबन्धों की भाषा प्रायः काव्यात्मक है और बिम्ब सरल, अकृत्रिम तथा मर्मस्पर्शी हैं। खोई हुई निश्छलता के कल्पना-प्रवण पुनर्सर्जन और तेज़ी से लुप्त होती जा रही जीवन-शैली के रंगीन कोलाज के सूक्ष्म निरीक्षण के लिए यह कृति गुजराती में लिखित भारतीय साहित्य को एक अमूल्य देन मानी गयी है और इसे वर्ष 1990 के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

इस कृति के अनुवादक हैं राजस्थानी और हिन्दी के कवि **कैलाश कबीर**, जिनकी विद्यालयी शिक्षा गुलाबपुरा (ज़िला भीलवाड़ा) और बोरुंदा (जोधपुर) में सम्पन्न हुई। जोधपुर विश्वविद्यालय से 1978 में एम. कॉम. के बाद आपने साहित्य सेवा को अपना प्रमुख कार्यक्षेत्र बनाया। बहुमुखी प्रतिभा के धनी कबीर को साहित्य के अलावा आपने लोक संस्कृति और लोक-साहित्य का विपुल अध्ययन एवं व्यापक अनुभव है। सम्प्रति आप हिन्दी 'पर्यायवाची मुहावरा कोश' पर कार्यरत हैं। आपकी काव्य-कृति *'तुम्हारे आने पर'* को राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर द्वारा सुमनेश जोशी पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

Library IIAS, Shimla
H 891.474 J 78 S
00094244

ISBN 81-260-0308-1

मूल्य : 35/- रुपये